निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व

समयसार गाथा 2 के आधार से

आत्मानुभूति प्रगट करने का उपाय

लेखक :

नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

प्रथम संस्करण : 2000
(12 सितम्बर, 2000)

मूल्य : बारह रुपए

टाइपसैटिंग :
जैन कम्प्यूटर
मंगलधाम, जयपुर

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिन्टर्स
जामा मस्जिद
दिल्ली–110006

प्रकाशकीय

जैनसमाज में जाने/पहचाने वयोवृद्ध मनीषी विद्वान श्री नेमीचन्दजी पाटनी जहाँ एक ओर राष्ट्रीय स्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्ध हस्त हैं, वहीं आप जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से भी ओतप्रोत रहते हैं।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया है, पाटनीजी उनमें अग्रणी हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग धंधों को आगे बढ़ाने में दिन-रात एक करते देखे जाते हैं, उस उम्र में आदरणीय पाटनीजी पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग-धंधों की परवाह न करके पूज्य श्री कानजीस्वामी के मिशन में सम्मिलित हो गये और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनीजी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती चली गयी। सन् १९६४ से जब से स्व. सेठ पूरनचन्दजी गोदीका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गयी – तभी से आप पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन का वह वट बीज, जो आज एक महान वट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ. भारिल्ल के सिवाय पाटनीजी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पहिले आदरणीय श्री पाटनीजी की और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं ; जिनमें 'सुखी होने का उपाय' भाग एक से भाग आठ तक – आठ पुस्तकें आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोश हैं। यद्यपि हिन्दी भाषा साहित्य के सौंदर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले खरी न उतरे; परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के रूप में प्रकाशित 'निर्मल आत्मानुभूति के पूर्व' नामक कृति यद्यपि उक्त आठों पुस्तकों के सार रूप में ही लिखी गयी है; परन्तु इसकी

विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण अनूठा है, अत: यह पठनीय एवं संग्रहणीय है। इस कृति में आत्मदर्शन की विधि वीतराग परिणति का स्वरूप, सर्वज्ञता, देशनालब्धि एवं प्रायोग्यलब्धि और वस्तुस्वरूप का अनुसंधान, आत्मा का स्व-पर प्रकाशकपना, सम्यक पुरुषार्थ, पाँच समवाय आदि जैनदर्शन के अनेक मार्मिक बिन्दुओं का स्पष्टीकरण करने का सफल प्रयास किया गया है।

इन सब पुस्तकों के अध्ययन-मनन-चिन्तन से पाठक नि:संदेह आत्मानुभूति की प्रक्रिया से सुपरिचित तो होंगे ही; साथ ही श्री पाटनीजी के गहन अध्ययन से भी परिचित होंगे तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से यह प्रेरणा प्राप्त करेंगे कि हम भी उनके समान लौकिक कार्यों को यथासाध्य साधते हुए लोकोत्तर कार्य करें।

इस पुस्तक के सुन्दर मुद्रण के लिए श्री रमेशचन्द शास्त्री ने श्रद्धापूर्वक कम्पोजिंग के साथ-साथ अनेकों बार प्रूफ आदि के द्वारा इसे सुन्दर बनाया तथा श्री अखिल बंसल ने इसे सुसज्जित रूप दिया; इसके लिए दोनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

– मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर

वस्तुत: बिना समझे सच्ची महिमा नहीं आती। बिना समझे कुछ भी लाभ नहीं होता। जैसे लड़के को पाँच किलो शक्कर लाने को कहा हो और वह समझे बिना लेने जाये तो रटा हुआ भूल जावे और काम नहीं हो। अत: पहिले यह निर्णय करना चाहिये कि इस काम के लिये यह चीज मँगाते हैं; वैसे ही जिनका स्मरण करना है, पहले उनका स्वरूप जाने तो उत्तम फल होता है। स्वरूप समझे बिना उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती। पंचपरमेष्ठी के स्वरूप भान सहित नमस्कार करने से उत्तम फल प्राप्त होता है। – **मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन, पृष्ठ-४**

निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
विषय परिचय	७
आत्मदर्शन की विधि आगम से समझना	१७
द्वादशांग का सार एकमात्र वीतरागता	१९
वीतराग परिणति का स्वरूप	१९
सर्वज्ञता का स्वरूप	२०
देशनालब्धि	२२
रुचिपूर्वक उपदेश का ग्रहण ही देशनालब्धि है	२२
प्रायोग्यलब्धि के प्रवेश योग्य निर्णय	२४
उक्त निर्णय पर पहुँचने की प्रक्रिया	२४
स्वद्रव्य की खोजपूर्वक आत्मानुभूति का उपाय	२९
उत्पाद-व्यय पक्ष का अनुसंधान	३२
आत्मा के विकार का कर्ता कौन ?	३६
मिथ्या-मान्यता की उत्पत्ति कैसे ? व नाश का उपाय..	३९
अस्ति की मुख्यता से आत्मस्वरूप को समझना	४०
आत्मा दर्शन-ज्ञान ज्योति स्वरूप है	४२
ज्ञान की स्व-परप्रकाशकता, किसप्रकार ?	४३
स्व-समयता अथवा पर-समयता कैसे ?	४५
ध्रुव में एकत्व होने में बाधक कारण ?	४९
पर का ज्ञान होते रहने से ज्ञान स्व में एकाग्र कैसे होगा	५०
ज्ञानी की परिणति में सर्वज्ञता मानना मिथ्या	५६
छद्मस्थ ज्ञान की स्व-पर प्रकाशता ध्रुव की एकाग्रता में बाधक लगती है	६०
रुचि की उग्रता किसे समझा जावे ?	६३
अनन्तसुख का भण्डार ध्रुव ही है – ऐसी श्रद्धा	

होने का उपाय ७१
सम्यक्श्रद्धा उत्पन्न करने का उपाय ७२
सिद्ध भगवान की पर्याय का स्वरूप ७४
दोनों प्रकार की इच्छाओं के अभाव का उपाय ७६
ज्ञानी की सविकल्पदशा में वर्तनेवाली दशा ८०
सावधानी रखने योग्य भूलों के प्रकार ८५
त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव की महिमा कैसे आवे ? ९३
सिद्ध भगवान को पर का जानना किसप्रकार होता है ? ९८
संसारी के ज्ञान का पर की ओर आकृष्ट होने का कारण? १०१
रागादि से अपनापन तोड़ना अथवा परद्रव्यों से तोड़ना ? १०३
भण्डार में अशुद्धता नहीं होने पर भी पर्याय अशुद्ध क्यों? १०९
छद्मस्थ के ज्ञान का परिणमन लब्धि एवं उपयोगात्मक १११
अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति किसप्रकार ? ११२
द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध नहीं माना जावे तो ? ११७
पाँच समवाय और विकार ११९
भावकर्म के अनुसार द्रव्यकर्म कैसे परिणम जाते हैं ? १२५
अनादि की श्रृंखला कैसे तोड़ी जा सकेगी ? १२६
शुद्धता आगामी पर्याय में कैसे जावेगी ? १२७
सम्यक् पुरुषार्थ की तारतम्यता कैसे चलेगी ? १२९
सम्यक् श्रद्धा के कारणभूत पुरुषार्थ १३०
सिद्धत्व प्रगट करने का उपाय १३५
प्रायोग्यलब्धि के पूर्व का निर्णय १४१
निष्कर्ष १४४
प्रायोग्यलब्धि में सावधानी १४९
सत्यार्थ रुचि की पहिचान क्या ? १५०
निर्विकल्पता की परिभाषा एवं उत्पत्ति १५२
प्रायोग्यलब्धि के पुरुषार्थ का प्रकार १५४
समापन १५६

निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व

विषय-परिचय

इस पुस्तक का विषय है – निर्विकल्प-आत्मानुभूति प्रगट होने के पूर्व, आत्मार्थी की अन्तरंग परिणति कैसी होती है? इसका ज्ञान करना।

निर्विकल्प-आत्मानुभूति प्रगट हुए बिना, सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन हुए बिना ज्ञान तथा चारित्र भी सम्यक् नहीं होते। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग ही प्रारंभ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन का निश्चय लक्षण है, एक मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायकध्रुवतत्त्व को अपना मानना अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' में से एकमात्र ध्रुव, जिसका त्रिकाल ज्ञायक ही स्वरूप है, वही मैं हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मैं नहीं हूँ; ऐसा मानना।

इसके विपरीत, मिथ्यादर्शन का लक्षण है, उपरोक्त ध्रुवस्वभाव के अतिरिक्त जो भी रह जाते हैं, उनमें से किसी में भी अपनापन मानना अर्थात् उसरूप ही मैं हूँ – ऐसा मानना। जैसे शरीर ही मैं हूँ। इसीप्रकार स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद आदि तथा द्रव्यकर्म, भावकर्मादि रूप ही मैं हूँ, वे मेरे हैं, मैं ही उनका कर्ता-भोक्ता हूँ आदि-आदि परज्ञेयों को अपना मानना तथा गुणभेदों में उलझना मिथ्यात्व है।

संक्षेप में, मिथ्यात्व ही संसार का मूल है और सम्यक्त्व ही मोक्ष का मूल है। यथा 'दंसण मूलो धम्मो' इसप्रकार हर एक आत्मार्थी का तो उद्देश्य मात्र एक ही होता है कि पर को निज मानने रूप विपरीत मान्यता का अभाव करके, अपने ज्ञायक ध्रुवभावरूपी स्व को अपना मानने की यथार्थ श्रद्धा प्रगट करना।

प्रश्न – ध्रुव में ऐसी क्या विशेषता है ? जिससे उसमें अपनापन प्रकट हो ?

उत्तर – ध्रुवभाव तो नित्यभाव है और उत्पाद-व्यय अनित्य स्वभावी हैं। अस्तित्व तो सभी को नित्य ही इष्ट है। अपने अस्तित्व का नाश तो किसी को भी इष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त ध्रुवभाव तो मेरा और सिद्ध भगवान का समान ही है, अन्तर है तो मात्र उत्पाद-व्ययवाली पर्याय में है। सिद्ध भगवान स्व एवं पर के ज्ञायक होते हुए भी किसी के कर्ता नहीं होते और अनन्तसुखी हैं। अत: मेरा भी ध्रुवभाव तो सिद्ध भगवान के समान ज्ञायक अकर्ता एवं अनाकुल सुख स्वभावी है। इसप्रकार सम्यक्त्वी अपने आत्मा को त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव ही मानता है। अकर्ता तो नास्ति अपेक्षा कथन है। अकर्तापना तो ज्ञायक विशेषण में ही अन्तर्गभित है।

नाटक समयसार में भी कहा है कि –

''जानै सो कर्ता नहिं होई, कर्ता सो जानै नहीं कोई।''

इसप्रकार सर्वप्रथम आत्मार्थी को अपने ध्रुव में सिद्धपने का विश्वास आता है। उस ही से सिद्ध भगवान बनने की रुचि जाग्रत होती है। ऐसी रुचि का होना ही, सम्यग्दर्शन प्रगट करने का बीजारोपण है।

जिनवाणी का कथन है **''रुचिमेव सम्यक्त्वं''** अर्थात् रुचि ही सम्यग्दर्शन है। ऐसी रुचि होते ही पुरुषार्थ भी रुचि को ही प्रोत्साहित करता है। **''रुचि अनुयायी वीर्य''**। रुचि की तारतम्यतानुसार वृद्धि से ही क्रमश: मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी के निषेक क्षीण होते जाते हैं, अन्तत: रुचि की पराकाष्ठा होने पर निर्विकल्प होकर उनका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

सिद्ध बनने की रुचि वाला आत्मार्थी उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति

के लिये, यथार्थ मार्ग समझना चाहता है। मार्ग समझने के लिये, भगवान अरहंत की दिव्यध्वनि द्वारा प्रसारित जिनवाणी का अध्ययन, सद्गुरुओं के उपदेश एवं ज्ञानीजनों का समागम प्राप्त करता है। उनके कथनों में अनेक विषय अनेक अपेक्षाओं को लेकर आते हैं, लेकिन आत्मार्थी की दृष्टि में तो अपने उद्देश्य की पूर्ति मुख्य होती है। पर्याय में सिद्धत्व प्रगट करने का उद्देश्य है। अत: ध्रुव में अपनत्वपूर्वक पर में कर्तृत्वबुद्धि का अभाव कर वीतरागता एवं ज्ञायकत्व की श्रद्धा द्वारा ज्ञेयमात्र के प्रति मध्यस्थ वृत्ति कैसे उत्पन्न हो। इस उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले कथनों को तो उग्ररुचि के साथ ग्रहण करता है/सुनता है और उन्हें चिन्तन-मनन पूर्वकअपने ज्ञान में दृढ़ता पूर्वक धारण कर लेता है बांकी अन्य विषयों को गौण छोड़ देता है। इसप्रकार से मार्ग ग्रहणकर अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये देशना का विश्लेषण करता है।

जब देशना द्वारा प्राप्त उपदेश से अनेक विषयों में फैली हुई अपनी बुद्धि को सब ओर से समेटकर, मात्र एक त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव में अपनापन स्थापन करने का विषय रह जाए एवं बाकी विषय सहजरूप से गौण रह जावें, ऐसा वह अपने ज्ञान में विभाजन कर निर्णय कर लेता है; निर्णय करते समय ज्ञान परलक्ष्यी रहता है, फिर भी आत्मार्थी को अपने ध्येय पर पहुँचने का मार्ग जैसे-जैसे स्पष्ट होता जाता है, रुचि में भी तदनुसार उतरोत्तर वृद्धि होती जाती है एवं परिणति भी पर के आकर्षणों में ढ़ीली होती जाती है और क्रमश: इतनी बलिष्ठ हो जाती है कि वह आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ द्वारा अपने ज्ञायक में एकाग्र होकर, अपने ध्येय को प्राप्त करने योग्य पात्रता प्रगट कर लेती है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ध्येय को प्राप्त करने की पात्रता मात्र आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ को ही है, परलक्ष्यी ज्ञान के निर्णय मात्र को नहीं है। आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ में रुचि की उग्रता एवं परिणति

में विशुद्धता की ही मुख्यता है। निर्णय का भी इतना उपकार अवश्य है कि अनेक विषयों में बिखरी हुई बुद्धि को सब ओर से समेटकर, मात्र एक ज्ञायक में ही मर्यादित कर दिया। जिसमें ज्ञान एकाग्र होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

इसप्रकार निर्विकल्प आत्मानुभूति पूर्वक अपने ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है। इस ही मार्ग का विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। अत: जो आत्मार्थी बन्धु आत्मानुभूति प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न हों और सफलता प्राप्त नहीं कर सके हों; उनको इस पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये, ऐसा मेरा निवेदन है।

विवेचन तो इस दृष्टि से होता है कि आत्मार्थी को सिद्धस्वभावी ज्ञायक ध्रुव में 'मैंपने' की श्रद्धा उत्पन्न करने का मार्ग समझ में आ जावे। इसलिए कथन तो समझाने की प्रधानता से होता है; लेकिन उद्देश्य तो श्रद्धा कराने का होता है, जो कि अर्न्तलक्ष्यी पुरुषार्थ से होता है। श्रद्धा यथार्थ होने पर परिणति भी सहज ही पर की ओर से सिमटकर अपनी ओर आकृष्ट हो जाती है, करना नहीं पड़ती। तीनों कार्य आत्मा में एक साथ ही होते हैं।

कठिनता यह है कि शब्दों की मर्यादा तो मात्र मार्ग समझाने तक सीमित है। शब्दों के द्वारा कथन तो श्रद्धा यथार्थ करने का तथा पर की ओर से परणति को समेटकर आत्मसन्मुख करने का होता है; श्रद्धा परिवर्तन एवं चारित्र शुद्धि का कार्य तो अन्तर्परिणति में तद्-तद् गुणों की पर्यायों में होता है, अन्तरंग की क्रिया को तो शब्दों द्वारा बताना संभव नहीं होता। यह कार्य तो तभी सम्भव है, जब तद्रूप परिणमन करने के लिए रुचि एवं पुरुषार्थ को शब्दों की ओर से समेटकर ज्ञान को अर्न्तलक्ष्यी किया जावेगा। रुचि एवं परिणति को अपने ध्येय प्राप्त करने में लगा देने से ही सफलता को प्राप्त कर सकता है।

कई आत्मार्थी रुचि में तो परिवर्तन नहीं करते, शरीरादि में एकत्वबुद्धि यथावत् बनाए रखते हैं। तथा ज्ञायक ध्रुव में अपनत्व का किंचित् भी आकर्षण उत्पन्न नहीं होने से अन्तरंग परिणमन में कुछ भी परिवर्तन आता नहीं। जबकि उपदेश का अभिप्राय तो परिणमन में परिवर्तन कराने का होता है। लेकिन उसके विपरीत उपदेश के शब्दों को पकड़कर तत्सम्बंधी विकल्प करने में संलग्न हो जाते हैं। वे आत्मा को सिद्ध समान मानते है एवं रागादि भावों को पर मानकर अपने को उनके कर्ता नहीं मानते हुए तत्सम्बन्धी विकल्प करते हैं। शरीर और शरीर सम्बंधी परिकर में अपनत्वबुद्धि रखते हुए भी मात्र पर होने के विकल्प करते रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि विकल्प तो स्वयं राग है और कर्तृत्वबुद्धि पूर्वक होते हैं उनके द्वारा वीतरागता कैसे प्राप्त होगी? तथा विकल्प–विचार तो मन द्वारा होते हैं जो कि परलक्ष्यी ज्ञान के विषय हैं। उनसे अन्तर्लक्ष्यी आन्मानुभूति कैसे होगी ? मुख्य बात तो यह है कि विकल्पों द्वारा ज्ञायक में अहंपना कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? तात्पर्य यह है कि इसप्रकार का पुरुषार्थ तो मार्ग से भ्रष्ट कर देता है, आत्मार्थी ने साधना का प्रारम्भ पूर्णता के लक्ष्य से किया है। सिद्ध भगवान की आत्मा के स्वरूप को समझकर उनके सिद्धत्व की अपने ध्रुव में स्थापना करके अपने को सिद्ध स्वभावी मानकर पर्याय में सिद्धत्व प्रकट करने का ध्येय बनाया है। ऐसा निर्णय तो विकल्पात्मक ज्ञान में ही होता है, लेकिन उसके साथ रुचि एवं परिणति का जो पृष्ठबल होता है, वही मुख्य है।

ऐसा आत्मार्थी ज्ञायकस्वभावी ध्रुव को सदैव मुख्य रखता है। ध्रुव को अहं के रूप में मुख्य रखते हुए उपदेश आदि का श्रवण-मनन-चिन्तन आदि करता है ; यह कार्य परलक्ष्यी ज्ञान में होते हुए भी रुचि एवं परिणति का पृष्ठबल ज्ञान को अन्तर्लक्ष्यी परिणमन की तारतम्यता

में वृद्धि करता रहता है , तथा मिथ्यात्व की क्षीणता में भी वृद्धि होती जाती है। जैसे उपदेश सुनकर आत्मार्थी विचारता है कि मैं तो ज्ञायक ध्रुवतत्त्व हूँ, स्त्री-पुत्रादि सचेतन परिकर एवं मकान जायदाद रुपया पैसा आदि अचेतन परिकर ये सब तो इस भव में ही मेरा साथ छोड़ देते हैं, अत: यह मेरे कैसे हो सकते हैं मैं तो ध्रुव ज्ञायक हूँ। इसी प्रकार शरीर भी भव-परिवर्तन के पहले ही मेरा साथ छोड़ देता है, परभव में भी नहीं जाता अत: ये भी मैं नहीं हूँ।

द्रव्यकर्म परभव में भी साथ नहीं छोड़ते, लेकिन वे भी संसार का अभाव होते ही आत्मा का साथ छोड़ देते हैं, आत्मा के साथ नहीं रहते, अत: वे भी मैं नहीं हूँ। भावकर्मों की तो स्थिति ही विचित्र है, उनका अस्तित्व न तो द्रव्य में है और न भूतकाल की पर्याय में था तथा न ही भविष्यकाल की पर्याय में रहेगा; मात्र वर्तमान एकसमयवर्ती पर्याय में भी अगर मैं पर का संयोग करता हूँ तो उत्पन्न होते हैं। अत: वह तो संयोगजनित संयोगी भाव है, मेरी ही भूल का फल है। अत: मैं अपने ही ज्ञायकभाव में एकत्व कर लीन हो जाऊँ तो उनकी उत्पत्ति ही नहीं होगी, अत: उनको भी मेरा नहीं माना जा सकता। केवलज्ञानादि निर्मलपर्याय भी सादि-अनन्त है। मेरा ध्रुव ज्ञायक ही अनादि अनन्त मेरा साथ नहीं छोड़ता, अत: वही मैं हूँ और एक मात्र वही मेरा है – इत्यादि विचारों द्वारा अन्तर्परिणति में पर की ओर की अपनत्वबुद्धि तोड़कर रुचि एवं परणिति को ज्ञायक की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है मात्र विकल्प नहीं करता। विकल्प एवं विचार उत्पन्न भी हो जावें तो उनके प्रति हेयबुद्धि वर्तने से वे गौण रहकर क्रमश: ढीले होते जाते हैं और अन्तरर्परिणति बलिष्ठ होती जाती है। इसप्रकार ज्ञायक में एकत्व कर निर्विकल्प आत्मानुभूति हो जाती है। उपर्युक्त क्रिया स्वलक्ष्यी ज्ञान में ही रुचि एवं परिणति की वृद्धि के पृष्ठबल द्वारा सफल होती है, मात्र क्षयोपशमज्ञान के निर्णय द्वारा नहीं।

उपरोक्त कार्य में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों का एक साथ परिणमन होता है। ज्ञान ने तो ज्ञायक को ही स्व के रूप में निर्णय किया है, श्रद्धा ने उसको ही स्व मान लिया; तत्समय ही ज्ञान भी सम्यक्पने को प्राप्त हो गया और चारित्र पर्याय ने भी अनन्तानुबंधी के अभावात्मक ज्ञायक में ही लीनता कर ली। इसप्रकार 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' होकर आत्मार्थी ज्ञानी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन प्रगट करने के संदर्भ में निर्विकल्पता की महिमा तो आती है; और उसे सुनकर कुछ आत्मार्थी उपयोग को निर्विकल्प करने की चेष्टा करने लगते हैं। वे भी सत्यार्थ मार्ग से च्युत हो जाते हैं, क्योंकि निर्विकल्पता तो ज्ञायक में अपनत्व होने पर सहज ही प्रगट हो जाती है, करने से नहीं होती। करने का भाव ही पर्यायदृष्टि एवं कर्तृत्त्वबुद्धि द्योतक है।

तात्पर्य यह है कि एक मात्र ज्ञायक में अपनापन हो जाने से ही सर्वसिद्धि है। ज्ञायक में अपनापन ही द्रव्यदृष्टि है और द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञायकध्रुव में अपनत्व आकर, ज्ञेय मात्र में परत्वबुद्धि हो जाती है, फलत: पर में आकर्षण ढ़ीला होकर ज्ञायक में प्रगाढ़ होना सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। जैसे कोई वृद्ध दम्पति पुत्र के अभाव में अन्य के पुत्र को दत्तक लेकर अपना पुत्र बनाता है। इस प्रक्रिया में दत्तक देने वाले ने तो अपने ही पुत्र से अपनत्व तोड़ा है और दत्तक लेने वाले ने अपनत्व जोड़ा है। ऐसी स्थिति में दोनों की अन्तरंग परिणति में जो अन्तर पड़ जाता है। उतना ही अन्तर ज्ञानी के स्व में एकत्व होकर परज्ञेयों के प्रति परत्व आ जाने से पड़ता है। संक्षेप में समझा जावे तो अन्तर रक्षण-पोषण के भावों में पड़ता है। जैसे – दत्तक क्रिया होने के पश्चात् अपने ही पुत्र के लाभ-हानि से असली

माता-पिता को न हर्ष होता है और न विषाद और उसके विपरीत दत्तक लेने वाला सुखी-दुखी होने लगता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी हो जाने पर उसको वीतरागभावों की वृद्धि के प्रति सहज रूप से रुचि हो जाती है एवं ध्रुव ज्ञायक के अतिरिक्त ज्ञेय मात्र के प्रति सहज उपेक्षाबुद्धि वर्तने लगती है। इस अंतरंग परिणति के साथ मन-वचन-काय के परिवर्तन का भी सहज रूप से निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध होता है। फलत: मन में अनन्तानुबंधी के अभावात्मक भाव वर्तने लगते हैं। जैसे इन्द्रियों के विषयों में गृद्धता का अभाव हो जाने से व्यसनरूप भाव नहीं होते। इसीप्रकार मदिरा सेवन एवं त्रसों के घात से उत्पन्न अभक्ष्य पदार्थों के सेवन करने आदि के भावों का भी सहजरूप से अभाव हो जाता है।

फलत: बाह्य क्रियाओं में भी ऐसी क्रियाएँ सहजरूप से नहीं होतीं। इतना तो सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। इसी को निश्चय के साथ होने वाला व्यवहार कहा जाता है और इसी का चरणानुयोग में भी कथन है। नाटक समयसार निर्जराद्वार के चौथे छन्द में भी कहा है –

"ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जगमाहिं सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुखमाहीं, यह विपरीत संभवै नाहीं।।"

कथनों में तो निम्न कोटि के भावों का अभाव करके उत्कृष्ट कोटि के भावों के करने का वर्णन किया जाता है। लेकिन उत्कृष्ट कोटि तक पहुँचने के भावों की तारतम्यता तो अलग-अलग जीवों की असंख्य प्रकार की होती है, वह वर्णन तो शब्दों के द्वारा सभंव नहीं होता। ऐसे कथनों से भ्रमित होकर कुछ आत्मार्थी ऊपर के गुणस्थानों जैसे भावों एवं क्रियाओं का अविरत सम्यग्दृष्टि के ही होना

आवश्यक जानकर अपने भावों को नाप कर तदरूप परिणमन करने में व्यस्त हो जाते हैं। वे भी पर्यायदृष्टि होकर सच्चे मार्ग से च्युत हो जाते हैं।

कुछ आत्मार्थी अनन्तानुबंधी के अभाव से होनेवाली कषाय की मंदता के कथन को पढ़कर, लेश्या (कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल) सम्बंधी अशुभ लेश्या के भावों के घटाने को ही अनन्तानुबंधी का अभाव मानकर लेश्या मंद करने में लग जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कृष्ण लेश्या तो पंचम गुणस्थान तक भी हो सकती है; भरत चक्रवर्ती का दृष्टान्त है– चक्रवर्ती छह खण्ड जीतता है, छ्यानवै हजार रानियों के रहते हुए भी भोगों में गृद्धता का अभाव रहता है, युद्ध में भी कर्तृत्वबुद्धि का अभाव रहता है, जो कि अविरति श्रावक को सहज रूप से होना अनिवार्य होता है।

कुछ बंधु ऐसे भी होते हैं कि राग सहित पर के प्रति उपयोग जाने के निषेध के कथनों को पढ़कर, पर को जानने का ही निषेध करने लग जाते हैं, जबकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक होने से पर जानने का अभाव होना सम्भव ही नहीं होता। तथा ज्ञायक में अपनत्व होने से सहजरूप अनन्तानुबंधी राग के अभाव पूर्वक से परज्ञेयों का ज्ञान होता रहता है। इस अभिप्राय को नहीं समझ कर राग के और ज्ञान के निमित्तों को दूर करने रूप बाह्यक्रिया-काण्ड में फंसकर उद्देश्य से च्युत हो जाते हैं।

जीवन सफल करने के लिये सत्यार्थ मार्ग प्राप्त हो जाना, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। मेरे लिए उपरोक्त मार्ग के प्रदाता प्रात: स्मरणीय स्व.पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हैं। उन्हीं की पावन कृपा से मुझे इस ओर की रुचि जाग्रत हुई और प्रवचनों से एवं उनके द्वारा प्रदान की

हुई दृष्टिपूर्वक जिनवाणी के अध्ययन से यह मार्ग प्राप्त हुआ तथा मार्ग समझने में आई उलझनों को सुलझाने की कृपा स्व.पूज्य बहन श्री चम्पाबहन से प्राप्त हुई। अत: उन दोनों महापुरुषों का उपकार तो यह आत्मा कभी भूल नहीं सकता। अन्तरंग (आत्मलक्ष्यी) पुरुषार्थ तो हर एक आत्मा की रुचि परिणति की उग्रता पर निर्भर है।

बहुत वर्षों पूर्व ''पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ११ प्रतिमा'' नाम की पुस्तिका एवं ''णमोलोए सव्व साहूणं'' नाम की पुस्तिका मैंने लिखी थी। उन पुस्तिकाओं को आद्योपान्त पढ़कर आवश्यक परिवर्तन करने हेतु श्री बड़ील भाई श्री पण्डितरत्न हिंमतलाल जेठालाल शाह सोनगढ़ ने मार्गदर्शन दिया। अत: उनका मैं आभारी हूँ एवं उपकार मानता हूँ। संशोधित होकर वे पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उसी समय से मेरी भावना थी कि चतुर्थ गुणस्थान प्रगट करने योग्य अन्तरंग एवं बहिरंग परिणमन को बताने वाला भी कोई साहित्य होना चाहिए, तदनुसार ''सुखी होने का उपाय'' नाम की पुस्तक माला प्रारम्भ की, जिसके सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं, आठवाँ भाग प्रेस में है। उसी पुस्तक माला का संक्षिप्तसार प्रस्तुत पुस्तक है।

मेरा विश्वास है कि नि:श्रेयस का मार्ग एकमात्र यही है और यही मार्ग अनन्त तीर्थंकरों ने बताया है। अत: आत्मार्थी बन्धु पूर्ण श्रद्धा के साथ मार्ग अपना कर अपना जीवन सफल करें। – यही भावना है।

– नमीचन्द पाटनी

निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व

आत्मदर्शन की विधि आगम से समझना

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने पंचास्तिकाय की गाथा १४६ में एक प्राचीन गाथा प्रस्तुत की है, वह निम्नप्रकार है –

''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणई॥

अर्थ – श्रुतियों का अंत नहीं है (शास्त्रों का पार नहीं है) काल अल्प है और हम दुर्मेध मंदबुद्धि वाले हैं, इसलिये मात्र वही सीखने योग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे।''

पण्डित भूधरदासजी ने भी जैन शतक में कहा है –

जीवन अलप, आयु-बुद्धि-बल-हीन, तामें,
आगम अगाध सिंधु कैसे ताहि डाकि है ?
(अर्थात् कैसे पूरा करेंगे ?)
द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्व कला,
भवदाघहारी घनसार की सलाक है॥
यही एक सीख लीजे, याही को अभ्यास कीजे,
याको रस पीजे, ऐसो वीर जिनवाक् है।
इतनों ही सार यही आतम को हितकार,
यही लों मदार और आगे ढूकढ़ाक (जंगल) है॥

गाथा के ''जरा-मरण के नाश का उपाय'' ही उपरोक्त पद्य में ''द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्वकला'' है और वह ''अनुभव

अपूर्वकला'' कैसे प्राप्त हो, उसका स्पष्टीकरण पंचास्तिकाय की गाथा १७२ की टीका में निम्नप्रकार बताया है –

''यह, साक्षात् मोक्षमार्ग सार-सूचन द्वारा शास्त्र तात्पर्यरूप उपसंहार है।'' (अर्थात् यहाँ साक्षात् मोक्षमार्ग का सार क्या है, उसके कथन द्वारा शास्त्र का तात्पर्य रूप उपसंहार किया है।)

साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागपना है, इसलिये वास्तव में ''अर्हंतादिगत राग को भी, चंदन वृक्षसंगत अग्नि की भाँति, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अंतर्दाह का कारण समझकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सबकी ओर के राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दु:ख-सुख की कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, खलबलाते हुए जल समूह की अतिशयता से भयंकर है – ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृत समुद्र को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

विस्तार से बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता, जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।

तात्पर्य दो प्रकार का होता है – सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें, सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र में प्रत्येक गाथा में प्रतिपादित किया गया है और शास्त्रतात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है –

सर्व पुरुषार्थों में सारभूत ऐसे मोक्षतत्व का प्रतिपादन करने के हेतु से जिसमें पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तु का स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बंध-मोक्ष के संबंधों (स्वामी), बंध-मोक्ष के आयतन (स्थान) और बंध-मोक्ष के विकल्प (भेद) प्रगट किये गये हैं, निश्चय-

व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है और साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परमवीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है – ऐसे इस यथार्थ परमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।''

द्वादशांग का सार एकमात्र वीतरागता

उपरोक्त सभी आधारों से स्पष्ट हो जाता है कि हमें तो मोक्ष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट शांति प्राप्त करना है। उसका उपाय तो मात्र एक वीतराग परिणति ही है। इसलिये समस्त द्वादशांग का अभ्यास करो तो उसमें से भी मात्र एक ही मार्ग समझना होगा कि ''आत्मा में वीतराग परिणति कैसे उत्पन्न हो ?'' इसी उपाय को किसी भी ग्रंथ में से अथवा ज्ञानी पुरुषों के समागम द्वारा अथवा जहाँ से भी जैसे भी प्राप्त हो सके, वहीं से प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मात्र एक आवश्यक कर्तव्य है और यही द्वादशांग में सारभूत है।

वीतराग परिणति का स्वरूप

वास्तव में वीतरागता तो आत्मा का स्वभाव है; क्योंकि आत्मा जिस स्वभाव में अनन्तकाल स्थित रह सकता है, वही तो स्वभाव हो सकता है। स्वभाव में कहीं रागादि का अंश भी नहीं रहता, इसलिए आत्मा का स्वरूप तो राग के अभावात्मक रहने से निराकुलता रूपी आनंद स्वभावी परिणमन ही है।

आत्मा का अस्ति की अपेक्षा से वास्तविक रूप ऐसा है। उसी स्वरूप को राग-द्वेषादि विकारी भावों के अभाव की अपेक्षा द्वारा वर्णन करके नास्ति के स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। हमारे को अनादिकाल से राग-द्वेषादिक का ही अनुभव हो रहा है, इसलिये उस ही को जानते हैं, पहिचानते हैं और उसी का वेदन हमें दु:ख कर भी

अनुभव हो रहा है। इसलिए उसी के अभाव को, वीतरागता का लक्षण कहकर वीतराग परिणति का ज्ञान कराया है। जिसका साक्षात् आदर्श (मॉडल) भगवान सिद्ध की आत्मा है, उनकी आत्मा में जो भी वर्तमान में व्यक्त/प्रगट है, वही आत्मा की वीतरागता का अस्ति अपेक्षा स्वरूप है। वह दशा अपनी आत्मा की पर्याय में प्रगट करना ही आत्मार्थी का एकमात्र उद्देश्य है।

इसलिये संक्षेप से तो तात्पर्य यही है कि समस्त द्वादशांग को पढ़कर भी एकमात्र वीतरागता प्राप्त करने का उपाय ही समझने योग्य है अर्थात् जिसप्रकार और जैसे भी हो, उसी विधि को अपनाकर उसमें से एकमात्र वीतराग परिणति उत्पन्न करने का मार्ग ही समझ लेना और उसके अनुसार अपने उपयोग को आत्मसन्मुख कर लेना ही उस मार्ग का अनुसरण करना है, अपना उद्देश्य सफल करने का यही एकमात्र उपाय है। भगवान महावीर स्वामी की आत्मा ने पूर्वभव में सिंह जैसी तिर्यंच दशा में भी, बिना कोई शास्त्र अभ्यास किए, इस मार्ग को अपनाकर जब भी अपना उपयोग आत्मसन्मुख किया तो आत्मानुभव कर सम्यक्त्व प्रगट किया; तत्पश्चात् कालांतर में पूर्ण वीतरागी होकर तीर्थंकर पद प्राप्तकर सिद्ध दशा को प्राप्त हुए।

संक्षेप में सब कथनों का तात्पर्य यही है कि जैसे भी बन सके, उस उपाय से अपने आत्मा में एकमात्र वीतराग परिणति प्रगट करने का पुरुषार्थ करने योग्य है; क्योंकि उस ही से आत्मा चरमदशा को प्राप्त कर सकता है।

सर्वज्ञता का स्वरूप

सर्वज्ञता भी सिद्ध भगवान का स्वरूप है। ज्ञान तो आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव एवं लक्षण है। ज्ञान की पूर्णप्रगटता ही सर्वज्ञता है। हम संसारी जीवों के वर्तमान में ज्ञान की अल्पता है, इसी कारण जानने

की इच्छारूपी आकुलता से सब दुखी रहते हैं। सिद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञान में लोकालोक सब प्रत्यक्ष हैं और जानने की इच्छा का अभाव है, अत: वे परमसुखी हैं।

वास्तव में तो ज्ञान का स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक है, वह जानने रूपी क्रिया तो ज्ञान की ही है और वह आत्मा में रहते हुए ही होती है। जानने के लिये ज्ञान न तो ज्ञेय के पास जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान के पास आते हैं, लेकिन जानना तो ज्ञान में हो ही जाता है। वास्तविक स्थिति यह है कि संसारी आत्मा की ज्ञानपर्याय, प्राप्त क्षयोपशम की योग्यतानुसार स्वसंबंधी ज्ञेय के आकार तथा परसंबंधी ज्ञेयों के आकार रूप स्वयं ही परिणमी है। वे ज्ञेयाकार वास्तव में ज्ञान के ही आकार है अर्थात् ज्ञान की पर्याय ही उनरूप परिणमी है। उन ज्ञेयाकारों को ही ज्ञानपर्याय जानती है। लेकिन संसारी जीव का ज्ञान प्राय: परलक्ष्यी होकर ही परिणमता है। वह परलक्ष्यी ज्ञान इन्द्रियाधीन ही प्रवर्तन कर सकता है; इसलिये जिस ज्ञेय को जानने के लिये उपयोग एकाग्र होता है, मात्र उस ही का ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है अन्य ज्ञेय रह जाते हैं। इन्द्रियज्ञान का विषय भी बहुत संकुचित रहता है। इसप्रकार परलक्ष्यी ज्ञान में सर्वज्ञता संभव ही नहीं है।

जब आत्मा को परद्रव्यों की ओर का आकर्षण ही समाप्त हो जाता है और ज्ञान पूर्ण आत्मलक्ष्यी प्रवर्तता है, तब उपयोग का विषय एकमात्र ज्ञायक ही होता है, उस समय आत्मा की ज्ञानपर्याय में स्थित समस्त ज्ञेयाकारों का ज्ञान एक साथ प्रगट प्रकाशित हो उठता है। ज्ञान की ऐसी दशा ही सर्वज्ञता है।

तात्पर्य यह है कि परलक्ष्यी इन्द्रियज्ञान सदैव अल्पज्ञ ही रहेगा और जो ज्ञानस्वलक्ष्यी होकर प्रवर्तता है, उसको इन्द्रियों का आलंबन नहीं रहता, वह ज्ञान अतीन्द्रिय होकर आत्मा से सीधा प्रवर्तने लगता

है। ऐसा ज्ञान ही सर्वज्ञता को प्राप्त होता है। ऐसी सर्वज्ञता सिद्ध भगवान की पर्याय में प्रगट है और मेरे ध्रुव स्वभाव में निरन्तर विद्यमान है। अब मुझे वह सर्वज्ञता पर्याय में प्रगट करना है। इस विषय की विस्तार से चर्चा आगे करेंगे।

देशनालब्धि

उपरोक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये, मार्ग समझने को जो भी पुरुषार्थ किया जावे, वही देशनालब्धि है। उद्देश्य विहीन शास्त्रों का स्वाध्याय करना मात्र, वह देशनालब्धि नहीं है; क्योंकि देशनालब्धि तो सम्यक्त्वसन्मुख जीव को ही होती है। सम्यक्त्व का विषय है – अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव स्वरूप में ही अपनेपन की श्रद्धा। इसलिये जो जीव उक्त सम्यक्त्व के विषय को सन्मुख करके अध्ययन करता है, वही जीव सम्यक्त्व सन्मुख होकर, देशनालब्धि प्रारम्भ करने वाला होता है। जिनवाणी के अध्ययन करने की पद्धति आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा सुखी होने के उपाय के भाग १ में की गई है, वहाँ से जान लेवें। तात्पर्य यह है कि अपना उद्देश्य ज्ञायक ध्रुव आत्मतत्त्व में अपनापन स्थापन करना है, उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपने ध्येय को प्राप्त करने का मार्ग समझने के जो भी प्रयास किये जावें, वे सब देशनालब्धि हैं।

रुचिपूर्वक उपदेश का ग्रहण ही देशनालब्धि है

उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी की आत्मानुभव प्राप्त करने की पिपासा (जिज्ञासा) इतनी उग्र हो जाती है कि जिनवाणी के हर एक कथन अथवा वक्ता के उपदेश में से, वह ऐसे विषयों को रुचि के साथ इस प्रकार छांटकर पकड़ लेता है, जैसे हंस पक्षी क्षीर और नीर में से मात्र क्षीर को तो ग्रहण कर लेता है बाकी नीर (पानी) को छोड़ देता

है, उसी प्रकार आत्मार्थी भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले विषयों को रुचिपूर्वक ग्रहण कर लेता है; बाकी विषय रुचि रहित ज्ञान में आने से धारणा में नहीं रह पाते।

भगवान अरहंत की दिव्यध्वनि में तो द्वादशांग आता है, उस ही का वर्णन जिनवाणी द्वारा प्राप्त है। उसमें भी अनेक अपेक्षाओं सहित अनेक प्रकार के कथन होते हैं; उनमें से मात्र अपने वीतरागतारूपी प्रयोजन सिद्ध करने वाले कथनों को छाँटकर निकालना ही समस्त द्वादशांग के अध्ययन का सार है। ऐसे कथनों को कैसे छाँटकर निकालना, उसकी विधि के सम्बन्ध में तो सुखी होने के उपाय के भागों में विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं। अत: उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं करेंगे, यहाँ तो मुख्यता से इस विषय पर बल देना है कि उपरोक्त अध्ययन की प्रणाली भी उग्र रुचि के पृष्टबल के बिना आत्मानुभव का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक नहीं हो सकेगी, रुचि का पृष्टबल ही प्रयोजनभूत विषय को मुख्य रखते हुए, अन्य विषयों को गौण करता जाता है।

जिनवाणी में रुचि शब्द का प्रयोग चारित्र गुण की मुख्यता से भी होता है। उसका वाच्य होता है, किसी वस्तु के अच्छे लगने रूप आकर्षण; लेकिन मोक्षमार्ग में तथा मुख्यरूप से इन प्रकरणों में तो श्रद्धागुण की अपेक्षा ही रुचि का प्रयोग किया गया है। इसका वाच्य है अपनेपन की मान्यता द्वारा उत्पन्न होने वाला सहज आकर्षण, जैसे किसी वृद्ध को पुत्र के अभाव में अन्य के पुत्र को दत्तक लेने पर उसके प्रति वर्तनेवाला सहज आकर्षण होता है। रुचि शब्द का प्रयोग, श्रद्धागुण की मुख्यता से प्रवचनसार में भी किया गया है एवं पूज्य गुरुदेव श्री ने अपने प्रवचनों में अनेक स्थानों पर किया है।

अन्त में जब वीतरागता का उत्पादक मात्र एक ही विषय रह

जाता है, तब ज्ञान उस ही विषय में रुचि के पृष्टबल द्वारा एकाग्र होकर प्रयोजन प्राप्त करने में सफल हो जाता है। पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में कहा भी है –

''एक देखिये-जानिये-रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये यही सिद्धि नहिं और॥

प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश योग्य निर्णय

आत्मार्थी उपरोक्त रुचिपूर्वक जो भी उपदेश प्राप्त करता है और उस पर रुचि सहित गंभीरतापूर्वक विचार, चिंतन, मनन तथा चर्चा वार्ता द्वारा ऊहा-पोह कर, यथायोग्य नयों एवं तर्कों द्वारा युक्तियों के आलम्बनपूर्वक, पूर्वापर अविरोध पूर्वक यथार्थ अनुमान के द्वारा निष्कर्ष प्राप्तकर, उसको वीतरागता की कसौटी पर कसकर एक निर्णय पर पहुँचता है, वह निर्णय ही सर्वोत्कृष्ट महत्त्वपूर्ण होता है। उसकी सम्यक् यथार्थता ही देशनालब्धि की पराकाष्ठा है, क्योंकि उस ही में ज्ञान को एकाग्र होना है और वह ही प्रायोग्यलब्धि के प्रवेश के लिये द्वार है, उस एकाग्रता के फलस्वरूप ही करणलब्धि पार कर, निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति हो जाना ही देशना की यथार्थता का प्रमाण है। अत: आत्मार्थी उस निर्णय पर किस प्रकार पहुँचा है। उस पर संक्षेप से चर्चा करेंगे।

उक्त निर्णय पर पहुँचने की प्रक्रिया

आत्मार्थी सर्वप्रथम अपना ध्येय निश्चित करता है कि मुझे तो सिद्ध बनना है। इसके पूर्व उपदेश के ग्रहण, जिनवाणी के अध्ययन एवं अनेक तर्क-वितर्क विचार मंथन द्वारा यह तो निश्चित कर ही चुका है कि सुख तो निराकुलता ही है। आकुलता में रंच भी सुख नहीं है।

कषाय की मंदता रूप शुभभाव में भी अर्थात् आकुलता की कमी में भी दु:ख का बीज तो जीवित ही रहता है; और वह पुन: पल्लवित हो जाता है। इसलिये आकुलता का जड़ मूल से नाश होने पर ही मैं सुखी हो सकता हूँ, अन्य कोई भी उपाय सुखी होने का नहीं है, ऐसा निर्णय जिसने कर लिया हो, वही जीव सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य पात्र जीवों की श्रेणी में आ सकता है।

उपरोक्त निर्णय पर पहुँच जाने वाले आत्मार्थी की रुचि तो उपरोक्त प्रकार का सुख प्राप्त करने के लिये उपायों को खोजने की ओर आकर्षित हो ही जाती है। पूर्व उपार्जित पुण्य के उदय से प्राप्त अनुकूल संयोगों के बीच रहते हुए अथवा पाप के उदय से प्राप्त प्रतिकूल संयोगों के बीच रहते हुये तथा उन संबंधी उत्पन्न होने वाली चिन्ताओं के बीच रहते हुये भी, आत्मार्थी को अगर वास्तविक रुचि जाग्रत हुई है तो वह वास्तविक सुख प्राप्त करने के उपायों को ढूंढने में शिथिलता नहीं आने देता; प्राप्त संयोगों के बीच रहकर रुचि उनमें भी उपरोक्त खोज के लिये समय निकाल लेती है तथा उसके पुरुषार्थ में शिथिलता नहीं आने देती और मार्ग खोजने का कार्य चलता रहता है।

उपरोक्त आत्मार्थी वास्तविक मार्ग खोजने के उद्देश्य से रुचिपूर्वक विश्वव्यवस्था एवं वस्तुव्यवस्था को समझता है। उसको समझकर अपने प्रयोजन सिद्ध करने वाले विषयों को छांट लेता है; बाकी रहे विषयों के समझने के समय को रुचि स्वयं बचा लेती है, उनमें उलझने नहीं देती। फलस्वरूप आत्मार्थी बहुभाग ज्ञेय पदार्थ तथा क्षयोपशम बढ़ाने वाले विषयों के समझने के भार से मुक्त हो जाता है। इसकी विस्तार से चर्चा भाग १ में आ चुकी है।

तदुपरांत आत्मार्थी प्रयोजनभूत विषयों को स्व और पर के

रूप में तथा हेय-उपादेय के रूप में विभाजन कर लेता है। इसके लिये आत्मार्थी को छह द्रव्यों की वास्तविकता अर्थात् 'उत्पाद-व्यय-ध्रोव्य युक्त सत्' के आधार से सबके स्वतंत्र परिणमन का स्वभाव समझ में आ जाता है। परद्रव्यों के परिणमनों के फेरफार (परिवर्तन) करने संबंधी मिथ्याश्रद्धा का स्वरूप भी समझ में आ जाता है। पर के प्रति कर्तृत्व बुद्धि का अभिप्राय भी ढ़ीला (कमजोर) पड़ जाता है। स्वद्रव्य की शुद्धि, निराकुलता रूपी सुख व शान्ति प्राप्त करने के लिये मात्र अपने स्वद्रव्य (अपने आत्मद्रव्य) में से ही अपने आपको सीमित कर लेता है। अपने सुख को अन्य कहीं से भी अर्थात् परद्रव्यों अथवा इन्द्रिय विषयों से प्राप्त करने के विकल्पों के प्रति उत्साहवान नहीं रहता तथा उन चिन्ताओं से भी अंशत: निर्भार हो जाता है और ऐसे विचारों की निरर्थकता समझने से ऐसे विकल्पों में कर्तृत्व का पृष्टबल ढ़ीला (निर्बल) हो जाने से, शीघ्र मुक्ति मिल जाती है। उपरोक्त निर्णयों पर पहुँचने का श्रेय भी मात्र रुचि की उग्रता को ही है। वह रुचि सततरूप से चली आती है और प्रयोजनभूत विषयों को मुख्य बनाती हुई, आगे बढ़ती जाती है, उसमें अन्य विषय स्वयं गौण होते जाते हैं, फंसने नहीं।

परद्रव्यों की कर्तृत्वबुद्धि तोड़ने में तथा अपने परिणमन में भी पर का अकर्तृत्व स्वीकार करने में आत्मार्थी को सबसे बड़ी कठिनता होती है। ''विश्वव्यवस्था में सहजरूप से (बिना कर्तृत्व के) छहों द्रव्यों के परिणमनों में बनने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध'' इस विषय पर विस्तार से लेखक की पुस्तिका ''वस्तु स्वातंत्र्य'' एवं सुखी होने का उपाय भाग-१ में चर्चा की गई है, वहाँ से अध्ययनपूर्वक समझकर उक्त शंका को निर्मूल कर लें; क्योंकि जैनधर्म का मूल सिद्धांत ''अकर्तावाद'' ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध के विषय की विपरीत मान्यता को जड़ मूल से नष्ट कर देता है।

स्थूलरूप से भी विचार किया जावे तो जब किसी भी द्रव्य के किसी भी प्रदेश में दूसरे द्रव्य के प्रदेश का प्रवेश ही नहीं है, तब वह कैसे अन्य द्रव्य के कार्य में हस्तक्षेप कर सकेगा। सभी द्रव्यों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न हैं तथा छह द्रव्यों में पाँच तो अचेतन द्रव्य हैं, वे किसी को जानते ही नहीं तो वह अन्य द्रव्य में परिवर्तन क्यों करेंगे और कैसे करेंगे। इसके विपरीत भी अगर एक द्रव्य के कार्य में निमित्त रूप से कहे जाने वाले अन्य द्रव्य का हस्तक्षेप (परिवर्तन) स्वीकार कर भी लिया जावे तो सभी द्रव्य आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे, क्योंकि हस्तक्षेप करने का अधिकार तो सबको ही मानना पड़ेगा और समस्त विश्व अशांत हो जावेगा, लेकिन ऐसा तो असंभव है। ऐसी विपरीत मान्यता से जैनधर्म के मूल सिद्धांत ही नष्ट हो जावेंगे। आत्मा का ज्ञायक एवं अकर्तास्वभाव, वस्तुमात्र का अकर्तृत्व एवं उत्पाद-व्यय ध्रुवता स्वभाव, वस्तुमात्र का अनेकांत स्वभाव तथा परमात्मा की सर्वज्ञता एवं वीतरागता के साथ वस्तु के सहज स्वाभाविक क्रमबद्ध परिणमन आदि सभी सिद्धांत समाप्त हो जावेंगे। प्रत्यक्ष विपरीत होने से ऐसे सिद्धान्त कभी भी स्वीकार नहीं किये जा सकते।

शंका – लेकिन देखने में तो ऐसा ही आता है कि निमित्तरूप अन्य द्रव्य आया तो ही वह कार्य संपन्न हुआ और कथन में भी इसी प्रकार कहने में आता है।

समाधान – उत्तर तो इतना ही पर्याप्त है कि क्या सभी बनने वाले प्रसंग उपरोक्त मान्यता के अनुसार हो ही जाते हैं अथवा कुछ ही सफल होते हुये देखे जाते हैं, बाकी बहुभाग तो निमित्त होने पर भी सफल नहीं होते। इतने मात्र से ही उपरोक्त कथन मान्य नहीं हो सकता। और सिद्धांत तो उपरोक्त मान्यता हो ही नहीं सकती; क्योंकि सिद्धांत वही होता है जो किसी भी काल में खंडित नहीं हो।

दूसरा पक्ष यह भी कहा गया कि देखने में भी ऐसा आता है, यह भी वास्तव में सत्य नहीं है; क्योंकि देखने वाले दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं एक तो अज्ञानी जीव होते हैं, जो विश्वव्यवस्था एवं वस्तु व्यवस्था से अपरिचित होते हैं; मात्र उन ही को ऐसा दिखता है लेकिन दूसरे ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनको पूर्व कथित जैन सिद्धांतों पर विश्वास अर्थात् श्रद्धा है। ऐसे व्यक्ति तो वास्तविक दृष्टि वाले (सिद्धांतपूर्वक देखने वाले) होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ऐसे कथन व परिणमन भ्रमित नहीं करते; उनको तो वे सब कार्य, वस्तु के सहज रूप से बनने वाले स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध दिखते हैं और उनको तो कार्यरूप परिणमन करनेवाला द्रव्य ही कार्य का करने वाला दिखता है। विश्व की व्यवस्था के अनुसार, हर एक कार्य के संपन्न होने पर पाँच प्रकार की स्थिति सहज रूप से बनती ही बनती है, जिनको 'पाँच समवाय' के नाम से जिनवाणी में बताया गया है – समझाया गया है। (इसका विस्तार से कथन ''वस्तु स्वातंत्र्य'' तथा प्रथम भाग में किया गया है, वहाँ से समझ लेना)

समवायों में एक 'निमित्त' नाम का समवाय भी है, जो कि अन्य द्रव्य होता है। उस निमित्त को मिलाना नहीं पड़ता। मिलाने पर मिलता हो तो जो मिलावें, उन सभी को सफल हो जाना चाहिये सो ऐसा देखा नहीं जाता इसलिये ऐसी मान्यता विपरीत है वह तो सहज रूप से छहों द्रव्यों के परिणमनों में रहनेवाली विश्वव्यवस्था है इसलिये वह मिलती भी अवश्य ही है, रोकने से रोकी भी नहीं जा सकती तथा मिलाने से प्राप्त भी नहीं कराई जा सकती। इस प्रकार वास्तविक दृष्टिवाले को तो वह कार्य इसी प्रकार होता हुआ दिखता है। लौकिक भाषा में समझाने के लिये निमित्त की मुख्यता से कहा जाता है तो भी श्रद्धा वैसी नहीं की जाती। समझाने को लौकिक में तो इसप्रकार कहा जावेगा, परन्तु श्रद्धा नहीं डगमगानी चाहिये।

इसप्रकार के तर्क-वितर्कों द्वारा विशेष दृढ़तापूर्वक किये जाने वाले निर्णय से रुचि की उग्रता भी बढ़ जाती है और श्रद्धा भी दृढ़ इतनी हो जाती है कि वह उग्र पुरुषार्थ द्वारा परद्रव्यों की ओर से सिमटकर मात्र अपने द्रव्य में सीमित हो जाती है। वह परद्रव्यों के कर्तृत्व की मान्यता के कारण उत्पन्न होने वाले विकल्पों की निरर्थकता की श्रद्धा हो जाने से विश्व के कर्तृत्व से निर्भार होकर सिमट जाता है। ऐसे आत्मार्थी का पुरुषार्थ रुचि की उग्रता के साथ अपने द्रव्य के अनुसंधान पूर्वक वीतरागता प्रगट करने का मार्ग ढूँढने की ओर अग्रसर हो जाता है। जिनवाणी का वाक्य है ''रुचि अनुयायी वीर्य'' तदनुसार वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ सब ओर से सिमटकर मात्र अपने द्रव्य की ओर सीमित हो जाता है। आत्मार्थी ने उपरोक्त निर्णय बहुत सोच-समझ कर चिंतन-मनन द्वारा परीक्षा करके किया है। इसलिये अब उसके निर्णय को कोई भ्रमित नहीं कर सकता। फलतः रुचि एवं पुरुषार्थ सब ओर से सिमटकर मात्र स्वद्रव्य के अनुसंधान में ज्ञान सूक्ष्म होकर रुचि की उग्रता के साथ लग जाता है। फलतः सफलता भी शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

स्वद्रव्य की खोज पूर्वक आत्मानुभूति का उपाय

उपरोक्त प्रकार के निर्णय को प्राप्त आत्मार्थी अपनी रुचि एवं पुरुषार्थ को सब ओर से समेटकर और अपने आत्मद्रव्य में सीमित होकर विचार करता है। उसको यह विश्वास तो जाग्रत हो ही चुका है कि आत्मा में होने वाली आकुलता का अभाव होने से शान्ति (निराकुलता रूपी सुख) मुझे मेरे में से ही प्राप्त होगा। ऐसी श्रद्धा से उसकी रुचि उग्रता के साथ खोज करती है। वह विचारता है कि विश्व के सभी द्रव्यों के समान, मैं भी ''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'' स्वभावी द्रव्य हूँ। मेरी आत्मा में बसी अनन्त शक्तियाँ (गुण-सामर्थ्य आदि) सब मेरे द्रव्य में ध्रुव-स्थाई-अपरिवर्तनीय रहते हैं। उन सहित द्रव्य उसी समय उत्पाद-व्यय करता हुआ पलटता भी रहता है।

तात्पर्य यह है कि मेरा द्रव्य अनंत शक्तियाँ, सम्पदाओं सहित अभेदात्मक रहते हुये, 'ध्रुव' भी बना रहता है तथा पलटता अर्थात् उत्पाद-व्यय भी करता रहता है। विश्व के अन्य द्रव्यों के संबंध में विचार करना तो मेरे लिये अप्रयोजनभूत है। अत: मेरे द्रव्य की मर्यादा में रहकर ही मुझे विचार करना है।

मेरी आत्मा का ध्रुव तो त्रिकाली सत् है और उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय का मात्र एक समय का सत् है। उसका हर समय नवीन-नवीन उत्पाद होता रहता है और नाश होते ही दूसरे समय का उत्पाद आ जाता है। तात्पर्य यह है कि एक-एक समय होकर भी सत्ता का अभाव नहीं होता, लेकिन द्रव्य में बसी हुई अनन्त शक्तियों, विशेषताओं का प्रगटीकरण अर्थात् अनुभवन तो पर्याय द्वारा ही होता है। 'ध्रुव तो ध्रुव ही बना रहता है। वेदन तो क्षणिक होता है अर्थात् पलटता रहता है, यह हमारे अनुभव से भी सिद्ध है। ध्रुव का वेदन (अनुभव) होने लगे तो ध्रुव-ध्रुव न रहकर, अध्रुव हो जावेगा।

तात्पर्य यह है कि मेरी आत्मा में बसे निराकुलता रूपी अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव (स्वाद – सुख का लाभ) तो पर्याय द्वारा ही प्राप्त होगा। सिद्ध भगवान को भी ध्रुव में बसे अनन्त अतीन्द्रिय सुख का लाभ उनकी पर्याय द्वारा ही प्रगट हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध भगवान की पर्याय में जो कुछ भी प्रगट हो रहा है वे सभी सामर्थ्य – शक्तियाँ ध्रुव में त्रिकाल विद्यमान थी। जो ध्रुव में होती ही नहीं तो पर्याय में कहाँ से आ सकती थी। इससे यह स्पष्ट समझ में आ जाता है और विश्वास होता है कि सिद्ध भगवान की वर्तमान दशा (पर्याय) में जो शक्तियाँ सामर्थ्य, विशेषताएँ आदि प्रगट हैं, वे सभी वैसी ही और उतनी ही उनके ध्रुव में विद्यमान थीं। ध्रुव तो सभी आत्माओं (एकेन्द्रिय से लगाकर पञ्चेन्द्रिय तक) का समान है।

अत: यह सिद्ध है कि मेरा ध्रुव भी सिद्ध भगवान की प्रगट दशा के जैसा ही है। निष्कर्ष यह है कि ''सिद्ध भगवान की वर्तमान दशा (पर्याय) मेरे ध्रुव की परिचायक है।''

उपरोक्त मंथन के द्वारा यह श्रद्धा (विश्वास) जाग्रत हो जाती है कि मेरी आत्मा भी सिद्ध भगवान के समान ही अनन्त अतीन्द्रिय सुख, सर्वज्ञता, पूर्ण वीतरागता आदि अनन्तगुणों को प्रगटकर निश्चितरूप से अनन्त काल तक सुख का उपभोग कर सकती है। ऐसी श्रद्धा (विश्वास) जाग्रत होते ही, रुचि एवं पुरुषार्थ भी सब ओर से सिमटकर, सिद्धदशा प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्साहवान हो जाता है। मिथ्या मान्यताओं को तिलाञ्जलि देकर, तीव्र रुचि के साथ सिद्ध दशा प्राप्त करने के उपाय की खोज में संलग्न हो जाता है। समयसार ग्रन्थाधिराज की पहली गाथा की टीका में ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पूर्व ही आचार्य श्री ने ऐसी श्रद्धा को ही मुख्य किया है।

उक्त टीका का निम्न अंश महत्त्वपूर्ण है –

सर्वप्रथम कहते हैं कि ''सिद्धों को अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके इस समयप्राभृत ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ।'' फिर आगे कहते हैं कि ''वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द (प्रतिध्वनि आदर्श) के स्थान पर हैं – जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव चिन्तवन करके उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं। आदि।''

उक्त कथन से अपने आत्मा को सिद्ध दशा प्राप्त करने का संक्षिप्त-सरल एवं परिपूर्ण उपाय बता दिया है। अत: उपरोक्त प्रकार की श्रद्धा मोक्षमार्ग प्रगट करने का एकमात्र एवं अनुपम उपाय है।

उपरोक्त प्रकार से आत्मद्रव्य की स्थिति समझकर आत्मार्थी

अपना अस्तित्व ध्रुवरूप मान लेता है, क्योंकि निगोद से लगाकर अनेक भव परितर्वन हो गये तो भी मेरा अस्तित्व तो अभी तक ध्रुव बना हुआ है तथा भविष्य में भी सिद्ध दशा तक पहुँच जाने पर भी मेरा अस्तित्व तो ज्यों का त्यों ही ध्रुव बना रहेगा। निगोद में भी ध्रुव में रंच मात्र भी कमी नहीं आई और सिद्ध होने पर कुछ बढ़ने वाला भी नहीं है। 'ऐसा ध्रुव बने रहने वाला द्रव्य है वही मैं हूँ।' नाश होने वाला मेरा स्वरूप-स्वभाव ही नहीं है। अत: अनित्य स्वभावी पर्याय, वह भी मैं नहीं हूँ; उसका जीवन ही एक समयमात्र है पश्चात् वह स्वयं ही व्यय हो जावेगी, लेकिन मैं तो हर स्थिति में ध्रुव बना रहता हूँ अत: ऐसा अजर-अमर स्थाई ध्रुव ही मैं हूँ। इसलिये वे सब पर्यायें कैसी भी हों कोई भी हों सब पर के रूप में रह जाती हैं, मुझे उनको पर करना नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि अपने ध्रुव तत्त्व में आत्मपना निर्णीत हो जाने से रुचि अन्य सबसे सिमटकर स्व में मर्यादित हो जाती है। फलत: पुरुषार्थ भी सब ओर से सिमटकर रुचि का अनुसरण करते हुये स्वसन्मुख कार्य शील होने के लिये अग्रसर हो जाता है।

उत्पाद-व्यय पक्ष का अनुसंधान

पर्याय की शुद्धि हुए बिना भी आत्मा का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ध्रुव तो सिद्ध भगवान के समान मेरा भी है, लेकिन उनकी पर्याय में ध्रुव की पूर्ण सामर्थ्य प्रगट हो गई और मेरी पर्याय में नहीं हुई। अत: उनकी आत्मा पूर्ण सुख का अनंतकाल तक उपभोग करती रहेगी। मेरे ध्रुव में भी पूर्ण सामर्थ्य विद्यमान है, लेकिन पर्याय में तो दु:ख की ही प्रगटता हो रही है। अत: निश्चित होता है कि पर्याय की शुद्धि के लिये पूर्णनिष्ठा के साथ शुद्धिकरण का उपाय करना ही पड़ेगा। ऐसा निर्णयकर आत्मार्थी ध्रुव के समान ही पर्याय शुद्धि की योग्यता प्रगट करने के लिये कटिबद्ध होकर अनुसंधान करने में संलग्न हो जाता है।

आत्मार्थी ने भले प्रकार समझकर निर्णय कर लिया है कि मेरा ध्रुवतत्त्व तो सिद्ध समान है ऐसी श्रद्धा ने मेरे में ऐसा विश्वास बल प्रदान कर दिया कि मैं स्वयं सिद्ध भगवान बन सकता हूँ। क्योंकि अनंत आत्मा जो सिद्ध दशा को प्राप्त हो चुके हैं वे भी पहले भवों में मेरे समान ही थे अत: मैं भी सिद्ध भगवान अवश्य बन सकूँगा। ऐसा अनंत बल ऐसी श्रद्धा प्रदान कर देती है, लेकिन मात्र श्रद्धा मात्र ही पर्याय के उत्पादन को नहीं बदल सकेगी। तात्पर्य यह है कि ध्रुवतत्त्व श्रद्धा का श्रद्धेय तथा आश्रय करने योग्य तत्व तो है, लेकिन उसके आश्रय पूर्वक पर्याय शुद्धि का महान कार्य सम्पन्न होने पर ही आत्मा सिद्ध बन सकेगा। इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव करते हुए आत्मार्थी पर्याय का अनुसंधान करता है।

अनुसंधान प्रारम्भ करने के लिये सर्वप्रथम वह नव तत्त्वों के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है; क्योंकि नव तत्त्व पर्याय के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। अर्थात् आत्मा की पर्याय ही नव प्रकार के रूपों को धारण करती हुई परिणमती है, उसके प्रकार हैं – जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, इसी प्रकार आस्रव बंध तथा इसी के भेद पुण्य और पाप तत्त्व तथा संवर एवं निर्जरा, मोक्ष तत्त्व होते हैं। इन ही नव में से पुण्य, पाप तत्त्व को आस्रव तत्त्व में ही गर्भित करके सात तत्त्व भी कहा जाता है। सारांश यह है कि जीव नाम का पदार्थ जो मेरा आत्मा है, उसका ध्रुव पक्ष तो सदैव ध्रुव ही बना रहता है और उसके ध्रुव रहते हुये भी उत्पाद-व्यय करने वाला जो उसका ही पर्याय पक्ष है वह बदलता रहता है; उस उत्पाद-व्यय करने वाले पर्याय पक्ष के ही ये नौ प्रकार के स्वाँग (वेश) होते हैं। उन स्वागों में ही जीव वेश बदलता हुआ प्राप्त होता है। आत्मार्थी अनुसंधान के लिये पर्याय में सिद्ध जैसी शुद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से इन नव तत्त्वों को हेय, ज्ञेय, उपादेय के रूप में विभाजन

कर लेता है। ज्ञेय तत्त्वों को मात्र जानने के लिये तथा रुचि की उग्रता के साथ ही हेय तत्त्वों के अभाव पूर्वक उपादेय तत्त्वों को प्राप्त करने के संबंध में अनुसंधान करता है।

नव तत्त्वों के अनुसंधान करने का वर्णन (विवेचन) सुखी होने का उपाय के भाग २ में विस्तार एवं विश्लेषणपूर्वक किया गया है, संपूर्ण भाग इसका ही अनुसंधान है। इस भाग के भी कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं अत: इस भाग का जो परिवर्तित एवं परिवर्धित नवीनतम संस्करण है, उसका रुचिपूर्वक अध्ययन कर इस विषय को मनोयोग पूर्वक समझकर योग्य निर्णय करना चाहिये।

उक्त अध्ययन द्वारा आत्मार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मेरा अस्तित्व तो ध्रुव रूप है और ध्रुव तो सिद्ध सदृश्य है। अत: ध्रुव रूप से तो मैं सदैव सिद्ध ही हूँ। उसके स्वपने की दृष्टि में तो मेरे ही उत्पाद-व्यय पक्ष वाली पर्यायें भी मेरे लिये पर हैं और कलंक रूप भी हैं; क्योंकि मेरे स्वभाव से विपरीत परिणम रही हैं। अत: इनके प्रति मुझे कुछ भी ममत्व भाव है ही नहीं। साथ ही मेरे आकर्षण की विषय भी नहीं हैं। अत: मेरे लिये आश्रयभूत तो अकेला मेरा ध्रुव ही है। ऐसे अभिप्राय के साथ आत्मार्थी पर्यायशुद्धि के लिये कटिबद्ध होकर तत्पर हो जाता है। अर्थात् आस्रव एवं बंध हेय तत्त्वों का अभावकर, संवर निर्जरा रूपी शुद्ध पर्याय ही उत्पन्न हो एवं आस्रव बंध पर्यायें उत्पन्न ही नहीं हों, ऐसा उपाय विचारता है।

आत्मार्थी विचार करता है कि जो विकारी पर्याय उत्पन्न हो गई उसका तो दूसरे समय बिना मेरे प्रयास के ही व्यय हो जाता है। ऐसी दशा में उसमें तो करने का कुछ रहता नहीं। जो नयी पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह इस समय विद्यमान ही नहीं रहती, तो अविद्यमान में मेरा पुरुषार्थ काम क्या करेगा इत्यादि विचारों द्वारा विषय की कठिनता

लगने लगती है। (इन सब समस्याओं का समाधान विस्तार से भाग २ में है) अंत आत्मार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विकार के उत्पादक कारणों को रोकना ही विकार के अभाव करने का एकमात्र उपाय है। इस कारण उत्पादक कारणों की खोज करता है।

उत्पादक कारणों की खोज में विचारता है कि मैं तो विकार का खजाना हूँ नहीं तथा आत्मा के अनंत गुणों में कोई एक भी ऐसा गुण नहीं है जो विकार का उत्पादन कर सके; लेकिन फिर भी पर्याय में विकार का उत्पादन तो हो ही रहा है। अत: पुन: समस्या उत्पन्न होती है। आत्मार्थी को ऐसी स्थिति में भ्रमित करने वाला प्रबलतम कारण जिनवाणी में निमित्त की प्रधानता से किया गया ऐसा कथन उपस्थित हो जाता है कि द्रव्यकर्मों के अनुसार आत्मा में भावकर्म होते हैं। इसप्रकार बहुभाग आत्मार्थी इस कथन की वास्तविकता पर विचार नहीं करता। वे भ्रमित होकर, भावकर्म अर्थात् विकार का कर्ता द्रव्यकर्मों को मानकर पुरुषार्थहीन होकर विपरीत मान्यता के द्वारा मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। (इन सब विषयों की विस्तार से चर्चा भाग २ में है।)

वास्तविक पुरुषार्थी तो ऐसी समस्याओं का समाधान भी स्वयं ही ढूंढ़ निकालता है; उसकी रुचि का पृष्टबल ही उसको मार्ग भ्रष्ट नहीं होने देता वरन् पुरुषार्थ में और भी उग्रता आ जाती है। वह विचारता है कि द्रव्यकर्म रूपी पुद्गल वर्गणाओं के किसी भी प्रदेश का, मेरी आत्मा में प्रवेश तो होता ही नहीं फिर वे कैसे आत्मा की पर्याय को विकारी कर सकेंगे, आदि आदि विचारों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मेरी पर्याय में अन्य किसी भी द्रव्य का तो अंश मात्र भी कार्य नहीं हो सकता। अत: मेरे द्वारा की गई भूल ही इसका उत्पादक कारण है, द्रव्यकर्म कारण नहीं है। जिनवाणी के इस प्रकार के कथन तो, आत्मा में विकार रूपी कार्य के उत्पाद होने के समय, एकमात्र निमित्त

नामक समवाय कौन और किस प्रकार का रहा है यह बतलाने के लिये तथा विकार किस जाति के उत्पन्न हुए हैं, उनका विवेचन करके स्पष्ट करने के लिये किये जाते हैं। इसलिये ऐसे कथनों के द्वारा आत्मार्थी भ्रमित नहीं होता वरन् आत्मा में विकार के उत्पादक कारणों की खोज विशेष रुचि के द्वारा करने लगता है। (इसका विवेचन भाग २ में किया गया है वहाँ से अध्ययन करना चाहिये।)

आत्मा के विकार का कर्ता कौन ?

उपरोक्त कारणों की खोज के लिये रुचि की उग्रता पूर्वक आत्मार्थी मोक्षमार्गप्रकाशक, पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार ग्रंथों के अध्ययन मननपूर्वक एवं इसी पुस्तकमाला के पूर्व भागों के साथ-साथ भाग १ के भी अध्ययन अनुसार इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि मेरी आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होने वाले विकार भावों की उत्पत्ति का कारण न तो अचेतन बाह्य परिकर मकान जायदाद, रुपया-पैसा आदि की विद्यमानता है और न बाह्य सचेतन परिकर, स्त्री, पुत्र, भ्राता, पितादि की विद्यमानता है। तथा शरीरादि नोकर्म और आत्मा के साथ लगे आ रहे ऐसे, कार्माण शरीरादि द्रव्यकर्म का संयोग (विद्यमानता) अथवा द्रव्यकर्मों का उदय आना भी आत्मा के विकार उत्पादन का कारण नहीं है। क्योंकि ये तो आत्मा की जाति से भिन्न अस्तित्व रखने वाले ज्ञेय पदार्थ (परज्ञेय) हैं।

अज्ञानी अनादि कालीन पर रूप ही अपना अस्तित्व मानते हुए अर्थात् पर ज्ञेयों में अपनापन मानते हुए तथा उनमें ही अपना सुख मानने की सुखबुद्धि मानते हुए, उनमें ही एकत्व-ममत्व स्वामित्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मान्यता के साथ परिणमता चला आ रहा है। फलतः उपरोक्त पदार्थों में से कोई भी ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते ही, उनको

अपना मानकर उनमें एकत्व कर पर्याय में मिथ्यात्व, राग-द्वेषारूप विकार का उत्पादन करता चला आ रहा है। यह एक ही रागादि उत्पन्न होने का कारण है।

इसप्रकार आत्मार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि अनादिकाल से अज्ञान के कारण पर्याय की शुद्धि के लिए रागादि भावों की तीव्रता घटाकर मंदता करने का ही पुरुषार्थ करता रहा और इसी को वीतरागता प्राप्त करने का उपाय भी मानता रहा, लेकिन उसमें रंचमात्र भी वीतरागता का उत्पादन नहीं हो पाया। उपरोक्त विचारों के द्वारा अब यह स्पष्ट हो गया कि जब तक मान्यता विपरीत रहेगी तबतक, परज्ञेय जिनको अपना मान रखा है उन ही के रक्षण-पोषण में ही लगा रहूँगा; लेकिन पर ज्ञेय मेरे आधीन नहीं होने से अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमते हैं और परिणमते रहेंगे। फलतः मेरे राग द्वेषादि का उत्पादन अवश्यम्भावी है। कभी तो मंद होंगे तो कभी उग्र हो जावेंगे लेकिन अभाव तो हो नहीं सकेगा।

तात्पय यह है कि जब तक मान्यता विपरीत रहेगी तब तक रागादि का अभाव नहीं हो सकेगा। अतः मेरे पुरुषार्थ को कषाय की उग्रता से मंदता करने अथवा पर्याय में कुछ भी परिवर्तन करने की ओर से समेटकर, पर में मेरेपने की मान्यता के अभाव करने में पुरुषार्थ लगा देना चाहिये। इस प्रकार पर्याय के अनुसंधान का फल प्राप्त होता है। भावकर्मों को अथवा द्रव्यकर्मों को दोषी बतलाने वाले अर्थात् द्रव्यकर्मों को आत्मा का दुश्मन कहने अथवा रागादि भावकर्मों की उग्रता को बुरा कहकर रागादि विकारी भावों की मंदता को मोक्षमार्ग के साधक अथवा उपादेय बताने वाले कथनों को पढ़कर अथवा सुनकर भी भ्रमित नहीं होता, उपरोक्त निष्कर्ष से प्राप्त मान्यता से चलित नहीं होता।

उपरोक्त निर्णय से आत्मार्थी की रुचि एवं पुरुषार्थ अपनी पर्याय

के सुधारने के प्रयासों से भी सिमटकर अपनी मान्यता अर्थात् श्रद्धा-विश्वास बदलने के उपायों के खोजने में सीमित हो जाता है। उक्त निष्कर्ष पर पहुँचने वाले आत्मार्थी की मन-वचन-काय की प्रवृत्ति में भी स्वत: सहज रूप से परिवर्तन आ जाता है। फलस्वरूप उसकी मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता बढ़ जाती है। ऐसा जीव निकटभव्य एवं अल्प संसारी जीवों की श्रेणी में आ जाता है। पर में अर्थात् पर ज्ञेयों में अपनापन मानने की मिथ्या मान्यता रूप मिथ्यात्व नामक भावकर्म शिथिलता (क्षीणता) को प्राप्त होकर सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य पात्रता में पहुँच जाता है। साथ ही अनंतानुबंधी कषाय जो चारित्रमोहनीय कर्म सम्यक्त्व की घातक प्रकृति है; उसमें भी पर के साथ एकत्व बुद्धिपूर्वक सुख प्राप्त करने की बुद्धि भी ढ़ीली (क्षीण) पड़ जाती है और चारित्र पर्याय भी शुद्धता प्राप्त करने योग्य पात्रता उत्पन्न कर लेती है। इस समस्त उपलब्धि का श्रेय तो रुचि की वास्तविकता एवं उग्रता को है, 'रुचि अनुयायी वीर्य' होने से पुरुषार्थ सहज रूप से रुचि का अनुसरण करता है, फलस्वरूप रुचि के साथ विपरीत विषय गौण (उपेक्षित) रहते हुए प्रयोजन सिद्ध करने में बलवान पृष्टबल का कार्य करते है।

अब तो आत्मा का पुरुषार्थ अपनी मिथ्या मान्यता के अभाव करके अपने अस्तित्व रूप ध्रुव स्वभाव में ही अपनापन स्थापन (प्राप्त करने) के उपायों के समझने पर सिमटकर केन्द्रित हो जाता है।

ध्यान रहे उपरोक्त समस्त प्रकार के निर्णय देशनालब्धि के अंतर्गत ही विकल्पात्मक ज्ञान में हो रहे हैं। अभी प्रायोग्यलब्धि प्रारंभ नहीं हुई है, लेकिन प्रायोग्य में पदार्पण करने योग्य पात्रता में क्रमश: वृद्धि होती जा रही है, लेकिन यह भी ध्यान रहे कि ये सब विकल्पात्मक निर्णय होते हुये भी, रुचि विहीन मात्र विकल्प भी नहीं हैं। रुचि के साथ होने से पर्याय में क्रमश: शुद्धता भी बढ़ती जाती है।

मिथ्या मान्यता की उत्पत्ति कैसे व नाश का उपाय क्या ?

प्रश्न – उपरोक्त प्रकार से आत्मार्थी सब ओर से सिमटकर, अपनी मान्यता को सम्यक् करने पर केन्द्रित हो जाता है। विचार करता है कि अपनेपन की मान्यता अर्थात् श्रद्धा करना तो श्रद्धागुण का परिणमन है अर्थात् श्रद्धागुण की पर्याय है। श्रद्धागुण तो आत्मा का गुण है, उसका परिणमन तो अपने स्वामी को ही अपना मानना होना चाहिये ? वह विपरीत परिणमन कैसे करेगा ?

उत्तर – यह तो परम सत्य है कि द्रव्य के किसी भी गुण को अपने स्वामी के विपरीत नहीं परिणमना चाहिये, क्योंकि गुण और गुणी में तो स्वस्वामी संबंध है अर्थात् गुण का स्वामी तो गुणी है। ऐसा स्वभाव होते हुये विपरीतता भी अनुभव में आ रही है। इसलिये ऐसी विचित्र स्थिति का समाधान तो होना ही चाहिये।

अभी तक की हमारी खोज की पद्धति नास्ति की मुख्यता से चल रही थी अर्थात् छह द्रव्यों में से पाँच द्रव्य मेरे नहीं हैं, अन्य जीव द्रव्य भी मेरे से भिन्न हैं; इसी प्रकार अभी तक नास्ति पूर्वक ही अनुसंधान किया था, अब यहाँ से उपरोक्त समस्या के समाधान के लिये हमें अस्ति पक्ष को मुख्य करके अन्वेषण करना अनिवार्य हो गया है।

मिथ्या मान्यता के अभाव करने का उपाय सम्यक् मान्यता का स्वरूप एवं सम्यक् मान्यता के उपायों को समझे बिना तथा मिथ्या मान्यता के उत्पादक कारणों की खोज किये बिना कैसे सफल हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा।

श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन अर्थात् सम्यग्दर्शन का स्वरूप और चारित्र गुण के सम्यक् परिणमन अर्थात् सम्यग्चारित्र का स्वरूप

क्या है व वह कैसे उत्पन्न होता है, उनका उत्पादक कारण किस प्रकार कौन है यह तो समझा ही नहीं है। जब सम्यक् उत्पाद के उपाय समझ में आवेंगे तभी मिथ्या उत्पाद के कारणों के अभाव का उपाय मिलना संभव है। अत: अब मुझे सम्यक् परिणमनों के उपायों की खोज करने के लिये, सम्यक् उत्पाद के स्वामी ऐसे अपने आत्मा के स्वरूप को अन्वेषण के साथ समझना पड़ेगा।

अस्ति की मुख्यता से आत्मस्वरूप को समझना

जीव नामक पदार्थ अर्थात् जीव नामक समय का स्वरूप, उसकी सामर्थ्य की जानकारी एवं उसके सम्यक् परिणमन का कारण एवं विपरीत परिणमन के कारणों का सांगोपांग संक्षिप्त विवेचन समयसार ग्रंथाधिराज की गाथा २ की टीका में बता दिया है। आत्मार्थी की कठिनतम समस्या का समाधान इस एक ही गाथा में है और इसी का विस्तार पूरा समयसार ग्रन्थ है।

उक्त टीका का प्रथम चरण निम्न प्रकार है –

''समय शब्द का अर्थ इसप्रकार है 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एकपना' है, और 'अयगतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है, इसलिये एक साथ ही (युगपत्) जानना और परिणमन करना – यह दोनों क्रियाएँ एकत्वपूर्वक करे वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिये वह समय है।''

टीका के उपरोक्त अंश से यह फलित होता है कि मेरा आत्मा अर्थात् मैं भी जीव नामक पदार्थ हूँ, इसलिये हर समय जानते हुये परिणमते रहना – यह तो मेरा अस्तित्व है, स्वभाव कहने से तो कदाचित्

विभाव की अपेक्षा भी लग सकती है, लेकिन जानते हुए परिणमते रहना यह ही मेरे अस्तित्व का परिचायक है, इसलिये आचार्यों ने चेतना रूप परिणमन यह जीव का लक्षण कहा है। जानना तो जाननामात्र होते हुये भी परिणमन क्रिया भी एकत्वपूर्वक होने से स्पष्ट है कि जाननक्रिया रूप परिमणन ही जीव का अस्तित्व है।

टीका के उपरोक्त अंश के आगे ही उन सामर्थ्यों का भी आचार्य श्री वर्णन करते हैं, जो उक्त जीव नामक पदार्थ के जानने रूप परिणमन में साथ होकर हर समय व्यक्त होती रहती हैं अर्थात् उक्त परिमणन में ये सभी सामर्थ्य हर समय व्यक्त रूप से परिणमती रहती हैं। अभी इस चर्चा के बीच आत्मा के अनंतगुण एवं उनके परिणमन आदि गुण-पर्यायों के भेदों को मुख्य नहीं करना। उनको गौण रखकर, मात्र जीव (आत्मा) नामक समय (पदार्थ) का उपरोक्त परिणमन सम्यक् रूप अर्थात् स्व समय रूप क्यों परिणमता है और विपरीत (मिथ्या) पर समय रूप परिणमन कैसे करने लगता है। यह समझना है।

आत्मा की उपरोक्त प्रकार से सामर्थ्यों का कथन आचार्यश्री ने सात प्रकार से कहकर समझाया है, उनका संक्षेपीकरण निम्नप्रकार है –

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति जिसका लक्षण है, ऐसी सत्ता सहित है। (२) जीव चैतन्यस्वरूप से नित्य उद्योत रूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञान ज्योति स्वरूप है। (३) और यह जीव अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपना है, जिसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है। (अर्थात् अनंतगुणों के धारक (समुदाय) को द्रव्य कहते हैं। वहाँ अभिप्राय यह है कि अनन्तगुणों का अभेद एक द्रव्य ही परिणमता है।) (४) वह क्रमरूप (पर्यायें) अक्रमरूप (गुणों) प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण पर्यायों को

अंगीकार किया है। (५) वह, अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्त रूप को प्रकाशने वाली एकरूपता प्राप्त की है, ऐसा है। (६) वह, अन्य द्रव्यों के जो विशिष्ट गुण-अवगाहन-गति-स्थिति-वर्तना हेतुत्व और रूपित्व है, उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्य रूपता रूपस्वभाव के सद्भाव कारण इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है (७) वह, अनन्त-अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एक क्षेत्रावगाह रूप होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने के कारण टकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभाव रूप से है। ऐसा जीव नामक समय है।''

उपरोक्त कथित सातों प्रकार की सामर्थ्य सहित जीव ही अर्थात् मेरा आत्मा ही निरंतर परिणमता रहता है। इनके सभी ७ बोलों का विस्तार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इन सबके अभिप्राय में तो आत्मार्थी पूर्व अभ्यास के द्वारा भलीभाँति परिचित हैं। इन ७ में से वर्तमान में हमारे अन्वेषण में मात्र दूसरे एवं पाँचवें बोल के संबंध में विस्तारपूर्वक समझना रहेगा। आत्मार्थी इनके समझने में अपने ध्यान (उपयोग) को केन्द्रित रखें।

आत्मा दर्शन-ज्ञान ज्योति स्वरूप है।

उपरोक्त सामर्थ्य आत्मा के जानते हुये परिणमन करने वाले समय के त्रैकालिक लक्षण रूप परिणमन की विशेषता को स्पष्ट करता है। आत्मा जानता तो है लेकिन सामान्य विशेषात्मक ज्योति स्वरूप है अर्थात् प्रकाशन करती है। तात्पर्य यह है कि ज्योति अपने आप में रहते हुए प्रकाश करती है और जानने शब्द से ऐसा भ्रम होने की शंका हो जाती है कि जैसे आत्मा अपने से बाहर जाकर जानता है। इसलिये यह परिभाषा महत्त्वपूर्ण है, आवश्यकता होने पर विशेष स्पष्टीकरण के लिये आगे चर्चा करेंगे।

आत्मा की ज्ञान अर्थात् जानने की सामर्थ्य आत्मा की असाधारण सामर्थ्य है इसकी असाधारणता इस ही से सिद्ध होती है कि आत्मा की विशेषताओं को बतानेवाली समयसार में कही गई ४७ शक्तियों में से ६ शक्तियाँ तो इस जाननक्रिया की विशेषता को ही बताती हैं। तथा उपरोक्त सामर्थ्य नं. ५ भी इसी जानन क्रिया की कार्य प्रणाली की ही विशेषता को स्पष्ट करती है।

१. जीवत्व शक्ति २. चिति शक्ति ३. द्रशि शक्ति ४. ज्ञान शक्ति ५. सर्वदर्शित्व शक्ति और ६. सर्वज्ञत्वशक्ति – इसप्रकार छह शक्तियाँ हैं। सूक्षमता से विचार करें तो आत्मा की अनन्त शक्तियों में से बहुभाग शक्तियाँ, आत्मा की जाननक्रिया के स्वाभाविक परिणमन की सहयोगी ही हैं। इस पर तो विस्तार से चर्चा भाग ४ के प्रकरणों में की जा चुकी है। अत: यहाँ पुनरावृत्ति नही करेंगे। यहाँ तो हमें मिथ्या मान्यता का अभाव करने के लिये चर्चा करनी है। इसमें ज्ञान की जानन क्रिया का समझना महत्त्वपूर्ण है; इस दृष्टिकोण से चर्चा की है।

ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशकता, किसप्रकार ?

बोल नं. ५ इसप्रकार है – अपने और परद्रव्यों के आकारों को एकरूपतापूर्वक प्रकाशित करने की सामर्थ्य ॥५॥

उपरोक्त सामर्थ्य जाननक्रिया के स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक बतलाने वाली सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य जाननक्रिया की कार्य प्रणाली को स्पष्ट करने वाली है जो आत्मा का त्रैकालिक लक्षण बताया था, उस ही जानन क्रिया का यह स्वरूप है चाहे। निगोद का जीव हो और चाहे सिद्ध भगवान का आत्मा हो, सबका स्वभाव जानते हुये परिणमना ही तो होता है और उन सबकी जाननक्रिया उपरोक्त प्रकार की होती है।

भाग ४ के प्रकरणों में इस विषय पर विस्तार से चर्चा आ चुकी है, ज्ञान आत्मा का गुण है, उसका परिणमन भी आत्मा में ही होता है, तात्पर्य यह है कि जानने की क्रिया आत्मा के प्रदेशों में ही होती है, आत्मा से बाहर जाकर नहीं होती। अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्यों का ज्ञान भी आत्मा की ज्ञानपर्याय में ही होता है। उन्हें जानने के लिये (आत्मा से दूरवर्ती अथवा निकटवर्ती होने पर भी) आत्मा का ज्ञान, आत्मा से बाहर निकलकर ज्ञेयों तक नहीं जाता; वरन् आत्मा को अपने में रहते हुए ही पर ज्ञेयों का ज्ञान भी अपने में ही होता है। विशेषता यह है कि परज्ञेय तो आत्मा से बाहर हैं फिर भी उनको जानने के लिये ज्ञान को परसन्मुख भी नहीं होना पड़ता। स्वद्रव्य अथवा परद्रव्यों के आकाररूप अपनी ज्ञान पर्याय का आकार हो जाता है, ज्ञान उन आकारों के सन्मुख होकर भी नहीं जानता; वरन् ज्ञेयों के आकर रूप वह ज्ञान पर्याय ही हो जाती है। ज्ञान, उन स्व एवं परद्रव्य के आकारों को जानता है। परद्रव्यों का तो अंश मात्र भी वहाँ नहीं रहता। ज्ञान के जानन क्रिया की ऐसी अद्भुत आश्चर्यकारी सामर्थ्य है। इस ही अपेक्षा से ज्ञान को स्व-परप्रकाशक कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी और सिद्ध हो अथवा संसारी, सभी जीवों की जाननक्रिया तो इसी प्रकार परिणम रही है। अज्ञानी का विश्वास इससे विपरीत होने से वह परद्रव्यों को जानने के लिये जानन क्रिया के स्वभाव से विपरीत परसन्मुख होकर और उनके साथ एकत्व करता हुआ, उन्हीं की ओर झपट्टे मारता हुआ दुखी होता रहता है। ज्ञानपर्याय ज्ञेयों के आकार रूप हो जाती है, इसमें ज्ञेयों का कोई योगदान नहीं होता। ज्ञेयों के आकार रूप परिणमना, यह तो ज्ञान की स्वयं की योग्यता है। ज्ञानपर्याय की जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होगी, उस समय की वह पर्याय उस ही ज्ञेय के

आकार रूप अपनी योग्यता से परिणमती हुई ही उत्पन्न होती है। यही तो ज्ञान की सामर्थ्य की महान आश्चर्यकारी विचित्रता है।

उपरोक्त परिभाषा में यह भी कहा है कि 'स्व एवं पर के आकारों को एकरूपतापूर्वक प्रकाशित करना।' तात्पर्य यह है कि स्व द्रव्य के आकारों के प्रकाशित करने तथा पर द्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने में कोई भेदभाव नहीं होता। दोनों के प्रकाशन एक साथ ही एक प्रकार से होते रहते हैं। न तो स्व के आकारों में प्रेम होता है और न पर के आकारों के प्रति अप्रेम होता है। ज्ञान की जाननक्रिया तो मध्यस्थ रूप से दोनों के आकारों को प्रकाशने वाली होती है। इस प्रकार की जाननक्रिया के साथ जीव नामक समय निरन्तर परिणमता रहता है। इस संबंध की चर्चा पूर्व में आ चुकी है।

स्वसमयता अथवा परसमयता कैसे ?

उपरोक्त समस्त चर्चा से हमको यह समझना है कि मेरे आत्मद्रव्य के ज्ञान परिणमन का जब ऐसा पवित्र स्वभाव है तो वह स्व-समयरूप अर्थात् सम्यक् परिणमन रूप क्यों नहीं बना रहता है एवं पर-समयरूप अर्थात् विपरीत (मिथ्या) परिणमनरूप क्यों परिणमने लगता है ?

उक्त समस्या का समाधान इसी गाथा २ के उत्तर चरण में आचार्य श्री ने स्पष्ट किया है; उसका संक्षेपीकरण पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने भावार्थ में निम्न प्रकार किया है –

"जब वह (समय) अपने स्वरूप में स्थित हो (एकत्वपूर्वक लीन हो) तब स्व समय है। और परस्वभावरूप-राग-द्वेष-मोहरूप होकर रहे (एकत्वपूर्वक लीन होकर रहे) तब पर समय है।"

मूल टीका विश्लेषणपूर्वक मंथन करने योग्य है। इस टीका द्वारा

आचार्य श्री समझाना चाहते हैं कि उपरोक्त पवित्र ज्ञायक स्वभावी आत्मा, जिसकी जाननक्रिया में स्वसंबंधी ज्ञेयाकार एवं परसंबंधी ज्ञेयाकार एक साथ ही स्थित हैं; उनमें से अगर पर में अथवा रागादि भावों में अपनेपने की मान्यता होती है, तो आत्मा उनकी ओर आकर्षित होकर अपने ज्ञान में मात्र जानता ही नहीं वरन् एकत्वपूर्वक जानता हुआ परिणमता है और परसमय हो जाता है। और जब वही परसमयता को प्राप्त जीव, गुरु उपदेश, जिनवाणी के सम्यक् अध्ययन एवं सत्समागम एवं चिंतन, मनन द्वारा सम्यक् भेदज्ञान ज्योति प्रगट कर, अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी ध्रुवतत्त्व के साथ एकत्व कर लीन होता है, तब वह जीव अपने स्वभाव में (एकत्वपूर्वक) अपनेपने की मान्यता रूप सम्यक्श्रद्धा एवं अपने स्वरूप के प्रत्यक्षज्ञान तथा उसी अपने स्वभाव में लीनतारूप सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर, स्वसमय हो जाता है।

इस प्रकार जीव की भूल कैसे होती है; ऐसे प्रश्न का उत्तर अथवा समाधान उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है। जानना तो आत्मा का त्रैकालिक मूल स्वभाव है। अत: उसकी जाननक्रिया तो होती ही रहेगी, अत: जबतक आत्मा पर को अपना मानने संबंधी भूल नहीं छोड़ेगा तबतक मिथ्यात्वी बना रहेगा।

प्रश्न – रागादि तो आत्मा की पर्यायें हैं, इनके ज्ञान से पर समयपना क्यों ?

उत्तर – न तो रागादि संबंधी ज्ञेयाकारों का जानना और न पर द्रव्य संबंधी ज्ञेयाकारों का जानना, परसमयता का कारण है; वरन् उनका एकत्वपूर्वक (अपना मानने की मान्यता सहित) जानना, परसमयपने का कारण है।

प्रश्न – रागादि तो आत्मा की ही पर्यायें है, वे आत्मा की होने पर भी एकत्व करने योग्य क्यों नहीं हैं ?

उत्तर – आत्मा तो अनादि अनंत रहने वाला पदार्थ है अत: उसका स्व तो वही हो सकता है, जो अनादि अनन्त उसके साथ रह सके एवं अनाकुलता रूपी सुख प्रदाता हो; लेकिन ये रागादि तो एक क्षण में पलट जाने वाले एवं आकुलता रूप दुख के उत्पादक भाव हैं। अत: ये मेरी जाति से विपरीत जाति के तथा अनित्य होने से स्व नहीं माने जा सकते। स्व तो मात्र वही है जो मेरे साथ ध्रुव बना रहकर आनंद का प्रदाता हो। इसलिये मात्र मेरा ध्रुव भाव ही मेरा स्व है, अत: उस ही में एकत्व करना (अपना मानना अर्थात् उस रूप ही अपना अस्तित्व मानना) ही एकमात्र स्वसमयपने का उपाय है।

प्रश्न – जाननक्रिया वाली पर्याय भी तो अनित्य है ?

उत्तर – ज्ञान की पर्याय भी अनित्य स्वभावी होने से वह भी स्व मानने योग्य नहीं है। जाननस्वभाव (ज्ञानगुण) जो जीव के साथ अनादि अनंत सदैव एकरूप बना रहता है; ऐसा स्वभाव तो ध्रुवतत्त्व में रह सकता है। मेरी पर्याय तो हीनाधिक रूप तथा ज्ञेयपरिवर्तन करती हुई अनित्य स्वभावी है स्व मानी जाने योग्य नहीं है। इस प्रकार स्व माना जाने योग्य तो अकेला मेरा ध्रुवतत्त्व ही है। पर्याय कैसी भी हो वह मेरा स्व नहीं है। इसलिये तत्संबंधी ज्ञेयाकारों में एकत्व होना भी अकेला परसमय का ही कारण है।

इसके अतिरिक्त मेरी ज्ञान-पर्याय तो विषय करने वाली ही है, वह जिसको विषय बनावेगी, आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय उसी में एकत्व करेगी। ज्ञान पर्याय का विषय ध्रुव संबंधी ज्ञेयाकार ही मात्र स्व के रूप में है। उसके अतिरिक्त जो भी हों, वे सभी ज्ञेयाकार, परसंबंधी ज्ञेयाकार हैं। अत: श्रद्धा जिसको अपना मानेगी, ज्ञान तो उसी ओर आकर्षित होता हुआ उसे अपना विषय बनाने लगता है, उसी समय श्रद्धा के साथ वर्तती हुई चारित्र की पर्याय, उस ही में लीन होने का

प्रयास करने लगती है। फलत: श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों का एक ही विषय बन जाता है और वही स्वसमय अथवा परसमय होने का कारण बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि जानते हुए परिणमते रहना यह तो जीव का मूल स्वभाव है, अत: उसकी जाननक्रिया तो, गुण अथवा दोष उत्पादक कही ही नहीं जा सकती। उसकी जाननक्रिया के स्व संबंधी ज्ञेयाकार अथवा परसंबंधी ज्ञेयाकारों की विद्यमानता तो स्वाभाविक कार्य है ? उनका जानना गुण-दोष उत्पादन का कारण कैसे बन सकता है ? अत: उनका मात्र जानना परसमयता अथवा स्वसमयता का कारण नहीं बन सकता। जाननक्रिया तो ज्ञान गुण की पर्याय है, लेकिन उसी समय, उसके साथ वर्तने वाली श्रद्धागुण की पर्याय, जिसका कार्य अपना मानना है वह भी वर्तती है और उस समय ही चारित्र गुण की पर्याय, जिसका कार्य – श्रद्धा ने जिसको स्व माना हो, उसी में लीनता करना है, वह भी तत्समय ज्ञानपर्याय के साथ ही परिणमती है; क्योंकि सबका स्वामी तो एक जीव पदार्थ है, उसी में आत्मा के अनंत गुण अभेद होकर रहते व परिणमते हैं। अत: ज्ञान की जाननक्रिया के साथ सभी गुणों का परिणमन रहता है।

निष्कर्ष यह है कि जाननक्रिया के साथ वर्तने वाली श्रद्धा ने जिसको अपना माना होगा अर्थात् अपने ध्रुवरूप अस्तित्व में ही स्वपना माना होगा तो ज्ञान भी ध्रुव को ही स्व जानने लगेगा (पहले परलक्ष्यी ज्ञान में निर्णय किया था) और चारित्र भी उसी में लीन होकर – तीनों एक होकर स्व में एकत्वपूर्वक लीन होकर परिणमने लगते हैं साथ ही अनंत गुणों का परिणमन भी तद्रूप परिणमने लगता है, फलत: वही स्वसमय है लेकिन उसी जाननक्रिया के साथ वर्तने वाली श्रद्धा ने अगर ध्रुव के अतिरिक्त, ज्ञान में ही स्थित परसंबंधी ज्ञेयाकारों में किसी

भी ज्ञेयाकार रूप अपने को माना होगा अर्थात् मैं रागी-द्वेषी हूँ अथवा शरीर में हूँ तथा शरीर संबंधित अन्य कोई भी पदार्थ मेरे हैं आदि माना होगा तो चारित्र भी उन्हीं में लीनता करने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार श्रद्धा की विपरीतता के साथ, चारित्र भी उनमें ही लीनता अर्थात् उनके रक्षण पोषण में लग जाता है। फलत: ऐसा अज्ञानी जीव, पर में एकत्व कर लीन होता हुआ पर-समयपने को प्राप्त होता है। इस प्रकार जीव की स्वसमय-परसमयपने की द्विविधता प्रगट होती है।

उपरोक्त चर्चा देशनालब्धि के अन्तर्गत समझकर श्रद्धा – (विश्वास) में दृढ़ता के साथ ऐसा निर्णय आना चाहिये कि संसार के अभाव करने का उपाय तो मात्र अपनेपन की श्रद्धा बदलना ही है। मेरा अस्तित्व तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत् में से मात्र ध्रुव रूप ही है। उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय के साथ ही ज्ञान में ज्ञात होने वाले सभी ज्ञेयों रूप में नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ आदि-आदि। इसप्रकार के चिन्तन-मनन द्वारा किये गये निर्णय के द्वारा एकमात्र ध्रुव ही आकर्षण का विषय अर्थात् श्रद्धा का श्रद्धेय, ध्यान का ध्येय एवं ज्ञान का ज्ञेय निर्णय में रह जाना चाहिये। और साथ में वर्तने वाली रुचि भी उसी ओर केन्द्रित होकर पुरुषार्थ भी शीघ्र प्राप्त करने के लिये उग्र होकर उस ओर चेष्टावान् हो जाना चाहिये।

ध्रुव में एकत्व होने में बाधक कारण

प्रश्न – ध्रुव को अपना मानने के अभ्यास में भी पर सम्बंधी विकल्पों का उठना बाधक है ?

उत्तर – हे आत्मार्थी बन्धु ! रागी जीव को मिथ्यात्व एवं राग की भूमिका में विकल्पों का आना तो अवश्यंभावी है। ज्ञानी को भी चारित्रमोह की ३ कषायें विद्यमान रहने से विकल्प तो आते ही हैं।

लेकिन विकल्पों के साथ विकल्पों को जानने वाली ज्ञानपर्याय भी तो तत्समय ही कार्यरत है। दोनों के एक ही साथ कार्यरत होने पर भी तेरा ज्ञान ज्ञानक्रिया की उपेक्षा करके, विकल्प की ओर आकर्षित होता है, यह ही परसमयपने का प्रमाण है। ज्ञानक्रिया जिसका लक्षण है, ऐसा त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व, लक्षण का लक्ष्य है। एवं उसके साथ ही ज्ञानक्रिया का तादात्म्य सम्बन्ध है। अत: ज्ञान में ज्ञान एकाग्र होने से, उसको लक्ष्य की प्रसिद्धि (प्राप्ति) होती है। ऐसा परमागम का सार है।

विकल्प भी चारित्र गुण की विकृत पर्याय है, उस पर्याय का काल एक समय का है और उसका उत्पाद उसके जन्म क्षण में उसकी स्वयं की पर्यायगत योग्यता से हुआ है, वह भी अपने समय का सत् है, उसके सत् को असत् करने की क्षमता किसी में भी नहीं है; अत: विकल्प की उत्पत्ति उसके कारण से हुई है, और दूसरे समय तो वह स्वयं ही व्यय (नाश) हो जायेगी। लेकिन साथ में वर्तने वाली ज्ञानक्रिया तो स्वभावभूत क्रिया है, वह तो कभी नष्ट होने वाली नहीं है, अत: ज्ञानक्रिया के द्वारा ज्ञायक में अपनत्व मानने से ज्ञानक्रिया स्वयं विकल्पों की ओर आकर्षित नहीं होकर ज्ञायक की ओर आकर्षित हो जावेगी। इस प्रकार विकल्पों की विद्यमानता भी तेरे ज्ञायक में अपनत्व मानने में बाधक नहीं रहेगी।

पर का ज्ञान होते रहने से ज्ञान स्व में एकाग्र कैसे होगा ?

प्रश्न – जब विकल्पादि पर का ही ज्ञान होता रहेगा तब ज्ञान स्व में एकाग्र कैसे हो सकेगा ?

उत्तर – प्रमाण (ज्ञान) का कार्य तो जानने का है और ज्ञेय (प्रमेय) का कार्य ज्ञान के विषय होने का है। प्रमेयत्व गुण तो स्व

(जीव) और पर (जीवसहित छहों द्रव्यों) में है। और ज्ञान (जाननेवाला) गुण जीव मात्र में है। ऐसी स्थिति में ऐसा कैसे सम्भव है कि जिनमें प्रमेयत्व गुण विद्यमान है उनमें से ज्ञान अकेले स्व को ही जाने अथवा स्व को न जानकर (अकेले) पर को ही जाने अथवा अकेले द्रव्य को ही जाने उसके किसी गुण अथवा पर्याय को नहीं जाने। तात्पर्य यह है कि स्व और पर का ज्ञान तो जीव मात्र को किसी भी समय हुये बिना रह ही नहीं सकता। इसका प्रमाण भी है कि केवली भगवान को स्व के समस्त गुण पर्यायों सहित एवं परद्रव्यों के गुण-पर्यायों सहित सबका ज्ञान एक साथ निरन्तर वर्तता है; क्योंकि प्रमाण और प्रमेय की व्यवस्था सहज स्वाभाविक है। वह खण्डित कभी नहीं हो सकती।

प्रश्न – हम छद्मस्थ जीवों को भी ज्ञान तो है, लेकिन पर को जानने से विकल्प (राग) उत्पन्न होता है। इससे ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि पर को जानना ही रागादि का उत्पादक है ?

उत्तर – ऐसा नहीं है, मात्र पर को जानना रागादि का उत्पादक कारण नहीं है, वरन् पर में अपनापन अथवा आकर्षण ही मोह रागादि के उत्पादन का कारण है।

प्रश्न – परद्रव्यों को तो ज्ञानी, अज्ञानी, केवलज्ञानी कोई भी नहीं जानता, स्व की पर्याय में स्थित ज्ञेयाकारों को ही तो जानता है। अत: परद्रव्यों को नहीं जानता ऐसा कथन मिथ्या कैसे है, क्योंकि स्व को ही तो जाना है, पर को नहीं ?

उत्तर – यह तो सत्य है कि वास्तव में परसंबंधी ज्ञेयाकार ही ज्ञान के ज्ञेय होते हैं, परपदार्थ नहीं होता, लेकिन ऐसा कैसे माना जा सकता है कि पर को नहीं जाना; क्योंकि तत्समय ही ज्ञेयाकारों से व

ज्ञेय पदार्थों से अनिवार्य निमित्त-नैमित्तिक संबंध विद्यमान है। दोनों की तत्समय ही विद्यमानता की व्याप्ती होने से नहीं जानना तो आगम विरुद्ध कथन है। जिसमें अज्ञानी को तो उपरोक्त विषय का ज्ञान ही नहीं है अत: वह तो ज्ञेयाकारों को जानता ही नहीं, वरन् परपदार्थ को ही अपना ज्ञेय मानता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी-अज्ञानी जानता तो अपने ज्ञेयाकारों को ही है, लेकिन अज्ञानी को तो परपदार्थों में ही अपनापन (एकत्वबुद्धि) होने से वह तो ज्ञेयाकारों की उपेक्षा करते हुए ज्ञेयाकारों के निमित्तभूत परपदार्थों को ही जानता है एवं उनको प्राप्त करने के लिये झपट्टे मारने की चेष्टा करता है। भूल तो वास्तव में अपनेपने की मान्यता की है, पर को जानने की नहीं। अत: पर का नहीं जानना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न – उक्त प्रकार से ज्ञेयाकारों के जानने सम्बन्धी और परपदार्थ को सीधा नहीं जानने संबंधी भ्रम उत्पादक कथन ही क्यों किया गया है ?

उत्तर – ऐसा नहीं है, उपरोक्त कथन तो अनादि कालीन अज्ञानता को दूरकर ज्ञानी बनाने के लिये है।

वास्तव में जिनवाणी के हर एक कथन का अथवा समस्त जिनवाणी का तात्पर्य तो एक मात्र वीतरागता है। अनादि से जीव मिथ्यात्व एवं रागादि से दु:खी हो रहा है; ऐसे अज्ञानी को सत्यार्थ मार्ग बता कर वीतरागता उत्पन्न कराकर अतीन्द्रिय सुख प्राप्त कराने का आचार्यों का उद्देश्य होता है।

उक्त उद्देश्य प्राप्त करने हेतु उपरोक्त कथन है, तात्पर्य ऐसा है कि अज्ञानी की अनादि से पर में एकत्वबुद्धि अर्थात् अपनापन है। पर में अपना शरीर एवं शरीर में संबंधित सभी पदार्थ सम्मिलित हैं। फलत:

वह उन्हीं के रक्षण पोषण में निरन्तर व्यस्त रहता है। ऐसे जीव को वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा कर, पर की ओर का आकर्षण समाप्त करने के लिये उपरोक्त कथन है। आचार्य श्री समझाते हैं कि जिनको तू अपना मान रहा है, उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी तेरे से भिन्न हैं; तेरे प्रदेशों में उनके प्रदेशों की नास्ति है, इसलिये तेरी इच्छा के अनुसार तेरे अनेकों प्रयासों पर भी कार्य नहीं होता, ऐसा हर एक प्राणी को स्वयं अच्छी तरह अनुभव है। अत: इनको अपना मानकर रक्षण पोषण के भाव करने पर भी सफल होता नहीं। अत: सिद्ध होता है कि तेरी यह मान्यता विपरीत है। इसप्रकार के सत्यार्थ उपदेश के द्वारा अज्ञानी की पर में कर्तृत्वबुद्धि की मान्यता छुड़ाकर, आत्मसन्मुख पुरुषार्थ करने की प्रेरणा प्रदान की है।

तत्पश्चात् पर के जानने की लालसा से परसन्मुखता नहीं छोड़ता, अत: उसको जानने की वास्तविकता समझाकर जानने की भी लालसा छुड़ाने के लिये ऐसा समझाया है, कि आत्मा की जानने की क्रिया तो आत्मा में ही होगी, साथ ही आत्मा जानने के लिये अपने प्रदेशों को छोड़कर, ज्ञेय के पास जाता नहीं और ज्ञेय भी अपने प्रदेश छोड़कर आत्मा तक आते नहीं फिर भी जानना तो होता ही है। अत: वास्तविक स्थिति समझाते हैं कि आत्मा की ज्ञानपर्याय अपनी स्वयं की योग्यता से ज्ञेय के आकार हो जाती है, उसमें ज्ञेय का कोई योगदान नहीं होता। फिर भी वह ज्ञानपर्याय किस ज्ञेय के आकार बनी है, मात्र उसका ज्ञान कराने के लिये ज्ञानपर्याय को ज्ञेयाकार कहा गया है। वास्तव में तो वह ज्ञान ही ज्ञेय के आकार परिणमा है। इतना ज्ञान कराने मात्र के लिये ज्ञेय का ज्ञान के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है; क्योंकि ज्ञेयाकार और ज्ञेय की समकाल प्रत्यासति है।

उपरोक्त स्थिति समझाकर आचार्यश्री कहते हैं कि परद्रव्यों को

जानने की लालसा से क्यों दुखी होता है, पर के साथ में वास्तव में तेरा जानने का भी संबंध नहीं है। ज्ञेय तो स्वतंत्र सत्ता धारी पदार्थ हैं वे अपने कालक्रमानुसार क्रमबृद्ध परिणमन करते ही रहते हैं व करते ही रहेंगे उनको जानकर भी तू क्या कर सकेगा, अत: तेरी उनको जानने की लालसा भी निरर्थक है। ऐसा बताकर कर्तृत्व के साथ-साथ जानने की बुद्धि भी छुड़ाते हैं, उसका आकर्षण समाप्त कर आत्म-सन्मुखता का पुरुषार्थ जाग्रत कराते हैं।

साथ ही समझाते हैं कि तेरी ज्ञानपर्याय में जहाँ परसंबंधी ज्ञेयाकार हैं, वहाँ तेरे स्वसंबंधी ज्ञेयाकार भी विद्यमान हैं; अत: पर संबंधी ज्ञेयाकारों का लक्ष्य छोड़कर स्वसंबंधी ज्ञेयाकारों की ओर आकर्षित हो। उसके फलस्वरूप तुझे अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द की प्राप्ति होगी, इस प्रकार का निर्णय कराकर आचार्य श्री के उक्त कथन का उद्देश्य वीतरागता उत्पादन कराने का है।

उपरोक्त उद्देश्य के विपरीत कोई अज्ञानी उक्त कथन का ऐसा तात्पर्य निकाले कि आत्मा तो पर को जानता ही नहीं है, जबकि पर का जानना तो वर्तमान अनुभव में भी आ रहा है; तो ऐसी मान्यता से तो वीतरागता का घात होता है। अत: ऐसा तात्पर्य जिनवाणी का नहीं हो सकता।

इसप्रकार पर का ज्ञान वर्तते हुए भी ध्रुव में एकाग्रता हो सकती है। पर का ज्ञान में रहना बाधक नहीं हो सकता।

उपरोक्त कथन के समर्थन में भगवान अरहंत के केवलज्ञान का उदाहरण महत्त्वपूर्ण है, उनकी केवलज्ञान की पर्याय में, अपने साथ-साथ लोकालोक के समस्त ज्ञेयों के ज्ञेयाकार भी एक साथ प्रकाशित हो रहे हैं; लेकिन फिर भी वे अपने ज्ञेयाकारों में एकाग्र रहते हुए तन्मय

रहते हैं और अनन्त अतीन्द्रिय सुख में मग्न रहते हैं और साथ ही वर्तने वाले परज्ञेयों सम्बन्धी ज्ञेयाकारों को जानते हुए भी उनमें तन्मय नहीं होते हुए प्रवर्तते रहते हैं।

कहा भी है – "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन" तथा परमात्मप्रकाश ग्रंथ के अध्याय प्रथम की गाथा ५२ की टीका में बहुत स्पष्ट कहा है कि "केवली भगवान परज्ञेयों को जानते अवश्य हैं लेकिन तन्मयता रहित जानते हैं और स्व को तन्मयता पूर्वक जानते हैं।" इससे स्पष्ट है कि पर ज्ञेयाकारों के प्रति अपनेपन अथवा आसक्ति सहित का आकर्षण ही स्व के एकाग्र होने में बाधक है, मात्र जानना नहीं। इस ही सिद्धान्त को प्रकाशित करती हुई भगवान अरहंत की प्रतिमा विराजमान है, उनकी नासाग्र खुली हुए दृष्टिवाली ध्यानस्थ मुद्रा प्रत्यक्ष प्रकाशित करती है कि ज्ञेयों की उपस्थिति मात्र अपने आपमें तन्मय रहने में बाधक नहीं है। इतना अवश्य है कि उनके मोह का अभाव हो जाने से ऐसी ज्ञानक्रिया सहजरूप से स्वाभाविक सदैव वर्तती रहती है, लेकिन हम संसारी प्राणियों को ध्रुव का आकर्षण उत्पन्न होने पर, सहजरूप से ध्रुव मुख्य हो जाता है उस समय अन्य ज्ञेय स्वयं ही गौण हो जाते हैं, गौण करने नहीं पड़ते। लेकिन जबतक परज्ञेयों में एकत्वबुद्धि अथवा आसक्ति बनी रहेगी, परज्ञेय कभी गौण नहीं हो सकते, जैसे किसी महोत्सव में किसी माता का पुत्र खो गया है और वह व्यवस्थापकों को मिल जाता है तो व्यवस्थापक स्टेज पर खड़े होकर घोषणा करता है कि जिस माता का यह पुत्र हो वह आकर ले जावे, ऐसा देखते ही वह माता हजारों व्यक्तियों की भीड़ को चीरते हुए, अपने पुत्र की ओर दौड़ती है; इस प्रक्रिया में उसने हजारों व्यक्तियों को देखा भी, जाना भी; लेकिन अपना पुत्र मुख्य होने से, उसकी दृष्टि में सबका ज्ञान होते हुए भी, वे सब सहज रूप से गौण रह जाते हैं।

इसी प्रकार आत्मार्थी को एक ध्रुव ही अपनेपनरूप आकर्षण का विषय बनने पर समस्त पर ज्ञेयाकार उपस्थित रहते हुए भी गौण रह जाते हैं; भगवान अरहंत की यह क्रिया सहज होती रहती है, गौण-मुख्य करनी नहीं पड़ती।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी को अरहंत बनने अर्थात् सर्वज्ञ-वीतरागी बनने के लिये, एकमात्र अपने ध्रुव त्रिकाली ज्ञायकभाव में उग्र रुचिपूर्वक अपनेपन का आकर्षण उत्पन्न करना चाहिये। यही सार है; क्योंकि वर्तमान में मेरा सर्वज्ञ एवं वीतराग स्वभाव ध्रुव में ही तो विराजमान है और ध्रुव तो प्रत्येक पर्याय के साथ निरंतर वर्तता ही रहता है। इसलिये जिसमें उस स्वभाव की विद्यमानता होगी, उसी में से ही तो पर्याय में प्रगट होगी, अत: मुझे मेरे आकर्षण का विषयभूत अपना अस्तित्व ही एक ध्रुव रूप मानते हुए उस ही में अपनी परिणति (आत्मा के समस्त पुरुषार्थ) को तीव्रतम रुचिपूर्वक एकाग्र कर लगा देना चाहिये। यही मात्र द्वादशांग का सार है।

ज्ञानी की परिणति में सर्वज्ञता मानना मिथ्या

प्रश्न – ज्ञानी को तो शुद्ध परिणति प्रगट हो जाती है, और उसमें सर्वगुणों के अंश प्रगट हो जाते हैं। आत्मा में सर्वज्ञता नाम का गुण है अत: उसका भी अंश प्रगट हो जाता है। इससे फलित होता है कि सर्वज्ञत्व भी परिणति में आंशिक प्रगट हो जाता हैं ?

उत्तर – हे आत्मार्थी ! यह बात तो परम सत्य है कि निर्विकल्प आत्मानुभूति के काल में ही शुद्ध परिणति का जन्म होता है, उसी समय श्रद्धा की प्रगटता के साथ अनंतानुबंधी के अभावात्मक ज्ञान स्व में एकाग्र होकर आंशिक आत्म स्थिरता (लीनता) प्रगट कर लेता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों के सम्यक् होने पर, पर्याय में आंशिक शुद्धि

प्रगट होने से मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है। फलत: आत्मा के अनंतगुण भी सम्यक् होकर आंशिक शुद्ध हो जाते है। ऐसी पर्याय में शुद्ध परिणति का जन्म होता है। जिनवाणी का वाक्य है "सर्वगुणांश सो सम्यक्"। तात्पर्य यह है कि आत्मा तो अभेद अखण्ड, अनन्त गुणों का पिण्ड एक है, उस अभेद अखण्ड द्रव्य की अनन्त गुणों से समन्वित अभेद एक ही पर्याय होती है। गुणभेदों के कार्यों को समझने के लिये गुणभेदों की मुख्यता से अनन्तगुणों की अनन्त पर्यायों के रूप में चर्चा की जाती है, लेकिन समझने का विषय होने से, व्यवहार नय का विषय कहकर उसे वैसा ही स्वरूप मानने का निषेध भी किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि अभेद अखण्ड द्रव्य की अखण्ड़ पर्याय में, सभी गुणों में सम्यक्ता आ जाने से, सबकी सम्यक्ता की प्रगटता का आंशिक वेदन (अनुभव) भी प्रगट हो जाता है, सर्वज्ञत्व शक्ति का नहीं, क्योंकि ज्ञानी की पर्याय क्षयोपशमिक है और सर्वज्ञत्व क्षायिक ज्ञान में प्रगटती है। ऐसे उस अभेद-अखण्ड स्वाद का वेदन (स्वाद) अर्थात् अनन्त गुणों का सम्मिलित अतीन्द्रिय आनन्द भी आंशिक प्रगट हो जाता है; ज्ञानी की पर्याय में निरन्तर बहने वाले सब गुणों के सम्मिलित भावों का प्रतिनिधि, एक अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद निरंतर परिणमता रहता है। इसका वेदन (स्वाद) सम्यक्त्व रहने तक सविकल्प दशा में भी निरंतर बना रहता है, उसका नाम शुद्धपरिणति है। शुद्ध परिणति कथन मात्र की स्थिति नहीं है, वह तो महान-महान उपलब्धि होकर अन्तरंग की विचारधारा के साथ-साथ बाह्य जीवन परिवर्तन कर देनेवाली उपलब्धि है।

ऐसी परिणति उत्पन्न होते ही ज्ञानी को पर के प्रति अकर्तृत्व भाव उत्पन्न कराने वाले महामंत्र क्रमबद्धपर्याय की सम्यक् श्रद्धा प्रगट होकर, पर के प्रति सहज उपेक्षावृत्ति उत्पन्न हो जाती है तथा सहज रूप

से इसी प्रकार के विचार भी उत्पन्न होकर सहज ही प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य भाव बने रहकर वैराग्य परिणति सहित, बिना हठ के सहज ही बाह्याचार भी चरणानुयोग अनुसार हो जाता है ऐसी महान उपलब्धि शुद्ध परिणति की है।

अज्ञानी को तो ऐसी परिणति का अंश भी प्रगट नहीं होता, उसकी तो परिणति अशुद्ध है, उसमें शुद्ध द्रव्य के शुद्ध गुण की शुद्ध पर्याय का अंश कैसे रह सकेगा ? परिणति तो पर्याय ही का अंश है अत: अंश ही अशुद्ध होगा तो उसमें शुद्ध परिणति कैसे रह सकती है। अत: अज्ञानी को तो सर्वज्ञत्व शक्ति के अंश होने की किसी प्रकार भी संभावना सिद्ध नहीं होती, अज्ञानी का तो ज्ञान ही मिथ्या है, मिथ्याज्ञान में तो सम्यक् श्रुतज्ञान का भी सद्भाव नहीं हो सकता और सर्वज्ञता तो सम्यक् के साथ-साथ क्षायिक पर्याय है। अत: छद्मस्थ के सर्वज्ञता का अंश है – यह किसी प्रकार भी मान्य नहीं हो सकता।

प्रश्न – तब ज्ञानी की परिणति में तो सर्वज्ञता का अंश प्रगट हो जाना चाहिये ?

उत्तर – ऐसा मानना भी भ्रम है; क्योंकि सर्वज्ञता (केवलज्ञान) तो क्षायिक पर्याय है; उसका तो जन्म ही क्षयोपशमिक पर्याय के अभाव में होता है, उसके सद्भाव में तो उसका जन्म ही नहीं हो सकता। क्षायिक पर्याय के टुकड़े होकर अंश प्रगट नहीं होते और क्षयोपशम ज्ञान का सद्भाव तो बना ही रहता है, उसका अभाव नहीं होता।

प्रश्न – तब सर्व गुणों में सम्यक्पने का अंश प्रगट नहीं होता – ऐसा मानना पड़ेगा ?

उत्तर – उस कथन का ऐसा अभिप्राय नहीं है; सर्वगुणों के अंश सम्यक् हो जाते हैं, अत: सम्यक्पना तो सर्वगुणों में हो जाता है।

अत: ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। साथ ही श्रद्धा तो पूर्ण सम्यक् हो जाती है। श्रद्धा में संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय आदि का अभाव होकर स्वभाव की अर्थात् सर्वज्ञता की नि:शंक श्रद्धा हो जाती है आदि-आदि। इसी का नाम सर्वगुणों का अंश प्रगट होना है। इसके अतिरिक्त सर्वज्ञता तो ज्ञान का ही विशेषण है। लेकिन संसारी प्राणी को ज्ञान तो रहता है लेकिन क्षायिक पर्याय नहीं होती; सर्वज्ञता अर्थात् केवलज्ञान तो क्षायक ज्ञान है और संसारी की पर्याय १२ गुणस्थान तक भी क्षायोपशमिक रहती है। इसलिये वहाँ भी केवलज्ञान नहीं होता, ज्ञान मति श्रुत ही रहता है। केवलज्ञान तो मति श्रुत के अभाव होने पर ही हो सकेगा तथा क्षायिकज्ञान के अंशत: प्रगट होने का जिनवाणी में विधान नहीं है। अत: सर्वज्ञत्व का अंशत: प्रगट होना मानना मिथ्या है। सर्वज्ञत्व शक्ति आत्मा में नहीं होती तो अरहंत की सर्वज्ञता कैसे प्रगट होती। इसलिये सर्वज्ञत्व शक्ति का अस्तित्व तो द्रव्य में त्रिकाल रहता है, इस ही शक्ति की प्रगटता द्रव्य की पूर्णता के साथ प्रकट हो जाती है।

प्रश्न – इससे यह मानना किस प्रकार सत्य नहीं है कि सर्वज्ञता का अस्तित्व तो जीवमात्र को (ज्ञानी-अज्ञानी सबको) सदैव विद्यमान रहता है ?

उत्तर – अस्तित्व तो जिनवाणी भी कहती है। अस्तित्व मानना असत्य नहीं है, लेकिन उसका अस्तित्व द्रव्य के ध्रुव अंश में ध्रुव बना रहता है, लेकिन ध्रुव तो ध्रुव ही है, द्रव्य की सामर्थ्यों का प्रकाशन परिणमन तो पर्याय द्वारा ही होता है। अत: सर्वज्ञत्व शक्ति ध्रुव में सदैव विद्यमान रहते हुए भी, प्रकाश में आये बिना अर्थात् परिणमन में आये बिना उसका लाभ वेदन तो अंश मात्र भी प्राप्त नहीं होता। पर्याय क्षायिक हुए बिना ज्ञानी की पर्याय अथवा परिणति में उसका प्रगटपना रहता है, ऐसा मानना भ्रम है एवं पर्यायदृष्टि है।

ज्ञानी की श्रद्धा में तो पूर्ण सर्वज्ञता प्रगट हो ही जाती है। श्री मद्राजचन्द्र ने कहा भी है कि ''आत्मा को श्रद्धा अपेक्षा केवलज्ञान हुआ है। विचारदशा में वर्तता है, मुख्यनय से है आदि-आदि'' लेकिन इतना होते हुए भी परिणति अथवा पर्याय में अंशरूप से वर्तता है ऐसा उनने भी कहीं नहीं लिखा है।

तात्पर्य यह है कि इसप्रकार की मिथ्या मान्यताओं को तिलाञ्जलि देकर, एकमात्र ध्रुव त्रिकाली ज्ञायक की ही शरण लेकर अर्थात् आश्रय लेकर पर्याय मात्र की ओर से परिणति को समेटकर, एकमात्र ध्रुव को ही श्रद्धा का श्रद्धेय, ज्ञान का ज्ञेय एवं ध्यान का ध्येय बनाकर, आत्मा में सिद्ध दशा (पूर्ण वीतरागता एवं सर्वज्ञता) प्रगट करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यही द्वादशांग का सार है।

छद्मस्थ ज्ञान की स्व-परप्रकाशकता ध्रुव की एकाग्रता में बाधक लगती है ?

प्रश्न – छद्मस्थ को पर का ज्ञान रहते हुए, वह पर्याय ध्रुव में एकाग्र कैसे हो सकेगी ?

उत्तर – इस संबंध में विस्तार से चर्चा तो की जा चुकी है, लेकिन फिर भी संक्षेप इसप्रकार है। हे आत्मार्थी बन्धु ! एकाग्रता तो छद्मस्थ ज्ञान में ही करनी है, क्षायिकज्ञान में नहीं होती। छद्मस्थ ज्ञान स्व-पर दोनों को प्रकाशित करने का ही कार्य करता है यह सत्य है। और यह भी सत्य है कि ज्ञान के जानने के विषय दो होने पर भी छद्मस्थ ज्ञान की एकाग्रता मात्र एक ही विषय में हो सकती है। इसलिये छद्मस्थ ज्ञान की जानने की प्रक्रिया समझना चाहिये।

छद्मस्थ ज्ञान क्षयोमशमिक ज्ञान है, उसका जन्म ही लब्धि और उपयोगात्मक होता है यथा ''लब्ध्युपयोगोभावेन्द्रियम्''। एक

इन्द्रिय से लगाकर पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणियों में हर एक को, ज्ञान का जितना क्षयोपशम प्राप्त हुआ है, मात्र उतने ही विषय को उस जीव की ज्ञानपर्याय जान सकती है। उस जीव की ज्ञानपर्याय प्रगट होने के साथ लब्धि और उपयोगात्मक ही प्रगट होती है। उसकी उस ज्ञान पर्याय में स्व संबंधी विषय भी होते हैं तथा पर संबंधी विषय भी होते हैं क्षायोपशमिक ज्ञान की निर्बलता के कारण जब वह पर्याय जानने के लिये कार्यशील होती है तो पर्यायगत संपूर्ण विषयों (ज्ञेयों) को एकसाथ नहीं जान पाती; फलत: वह पर्याय अपनी स्वयं की योग्यता से जिस विषय की मुख्यता होती है, उसकी ओर एकाग्र हो जाती है, बाकी पर्यायगत संपूर्ण ज्ञेय पर्याय में व्यक्त होते हुए भी जानने से बाहर रह जाते हैं। इसप्रकार उन ज्ञेयों में से वह पर्याय जिस ज्ञेय की ओर एकाग्र होती है उस समय की उस जाननक्रिया को उपयोगात्मक जानना कहा जाता है अर्थात् ज्ञान का उस ज्ञेय के समीप होकर ज्ञान में जुड़ना वह उपयोग है, बाकी पर्यायगत जितने भी ज्ञेय रह गये उनको उस पर्याय का लब्धिगत ज्ञान कहा गया है।

इसप्रकार उस ज्ञान पर्याय में आत्मा को तो स्व तथा पर सब प्रगट है, उसमें अज्ञात कोई भी नहीं कहा जा सकता, लेकिन लोक व्यवहार में जिस ज्ञेय का उपयोगात्मकज्ञान होता है, उसका ही जानना दिखता है, इसलिये उसका ही ज्ञान हुआ ऐसा कहा जाता है व माना जाता है। जैसे रेलगाड़ी में बैठने के लिये, जिस नंबर के डिब्बे में हमारी सीट रिजर्व हो, मात्र उस नंबर को खोजने के लिये चलती गाड़ी में उपयोग केन्द्रित रहता है, उस समय स्टेशन पर आने जाने वाले व्यक्ति तथा रेल के सब डिब्बे एवं मुसाफिर भी ज्ञान में तो ज्ञात हुए हैं लेकिन ज्ञान उनमें नहीं अटकता फलत: उन सबका ज्ञान मात्र लब्ध्यात्मक मानना चाहिये। यह तो मात्र स्थूल द्रष्टान्त द्वारा समझाया है, आत्मा

के ज्ञान में तो एक समय की प्रगट पर्याय में लब्धि और उपयोगात्मक भेद पड़ते हैं। हमको तो अपना प्रयोजन साधने के लिये एक समय की ज्ञान पर्याय में स्व-पर रहते हुए भी ध्रुव में एकाग्र कैसे हुआ जा सकता है; यह समझना है।

उपरोक्त समस्त चर्चा एवं द्रष्टान्त से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि जिसका आकर्षण होता है बिना कोई प्रयास के, उपयोग उस ही ओर एकाग्र हो जाता हैं और अन्य विषय बिना प्रयास के स्वयं गौण (उपेक्षित) रह जाते हैं करना नहीं पड़ते। तथा पहिले गौण (उपेक्षित) करने से भी उपयोग अपने विषय पर नहीं जाता। उपयोग तो बिना प्रयास के स्वत: आकर्षित विषय की ओर झुक जाता है। ऐसी छद्मस्थ ज्ञान की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

निष्कर्ष यह है कि जिस आत्मार्थी ने गुरु उपदेश, जिनवाणी अध्ययन, सत्समागम एवं अपने चिन्तन-मनन के द्वारा विकल्पात्मक ज्ञान में एकमात्र ध्रुव को ही शरणभूत मानकर, ध्रुवरूप ही अपना अस्तित्व माना होगा अर्थात् ध्रुव में ही अपनापन माना होगा तो ऐसे आत्मार्थी का उपयोग स्वत: ही ध्रुव की ओर आकर्षित होकर, एकाग्र हो जावेगा। और उसी समय पर्याय में अनेक ज्ञेय विद्यमान होते हुए भी उपयोग का विषय नहीं बनकर, लब्धि में रह जावेंगे। ऐसी सहज प्रक्रिया है। इसलिये अन्य कुतर्कों को छोड़कर एकमात्र ध्रुव को ही शरणभूत मानकर, उसमें ही अपनापन स्थापन करना चाहिये। यही द्वादशांग का सार है।

यह ध्यान में रखने योग्य है कि उपरोक्त समस्त चर्चा सुनकर क्षयोपशमज्ञान के धारणाज्ञान में समझकर निर्णय कर लेना सरल है, लेकिन भगवान अरहंत बनने की रुचि की उग्रता के बिना, ऐसा निर्णय कार्यकारी नहीं हो सकता। प्रायोग्यलब्धि में पदार्पण करने के लिये तो

रुचि की उग्रता मुख्य है, क्योंकि रुचि की उग्रता से ही मिथ्यात्व की क्षीणता और अनंतानुबंधी की निर्बलता की तारतम्यता की व्याप्ति है; अकेले निर्णय से नहीं। रुचिपूर्वक का निर्णय ही प्रायोग्यलब्धि पारकर, करणलब्धिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करने में सफल हो सकेगा। रुचि की उग्रता ही ध्रुव में आकर्षण उत्पन्न कर एकाग्रता प्राप्त कराने का कारण बनेगी।

रुचि की उग्रता किसे समझा जावे ?

प्रश्न – रुचि की उग्रता को किस प्रकार मापा अर्थात् समझा जावे ?

उत्तर – रुचि की उग्रता को हम सीताहरण के द्रष्टान्त द्वारा समझेंगे। सीताजी का वन में से रावण ने अपहरण कर लिया और उनको लंका के भी ऐसे स्थान पर रखा, जहाँ रामचन्द्रजी के नाम की गंध भी नहीं पहुँचे, सीताजी ऐसे स्थान पर असहाय रूप में दिन बिता रही थीं। ऐसी स्थिति में भी उनकी रुचि तो एकमात्र श्रीराम की ओर लगी रहती थी लेकिन कोई उपाय नहीं सूझता था। इसी संकट काल में यकायक एक बंदर का रूप धारण कर विद्याधर हनुमान ने श्रीराम की अंगूठी गुप्तरूप से सीताजी के पास पहुंचा दी। उस अंगूठी द्वारा अपने मुक्त होने का संकेत प्राप्त होने के बाद, सीताजी को अपनी मुक्ति का मार्ग दिखने लग गया। इस समय की सीताजी की रुचि का प्रकार एवं उग्रता को अपने अनुमान ज्ञान से समझना चाहिये। अब सीताजी की रुचि में अंधकार समाप्त होकर अपनी मुक्ति का निश्चय हो गया। अत: उनकी रुचि पहले की अपेक्षा कितनी उग्र हो गई होगी, इसका अनुमान तो लगा ही सकते हैं। अब तो जैसे-जैसे दिन समीप आते जाते हैं और उनकी मुक्ति के लिये किये जाने वाले संघर्षों में सफलता

के समाचार सुनाई पड़ते होंगे, उनकी रुचि अंदर में कितनी उग्रता के साथ अपनी मुक्ति के समीप आने से छटपटाने लगी होगी। इस द्रष्टान्त द्वारा सिद्धान्त समझने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम अनादि अज्ञानी प्राणी किसी भी कारण को पाकर चतुर्गति के भ्रमण के दु:खों से दुखी होकर, शांति अर्थात् सुखी होने के मार्ग खोजने की रुचि प्रगट होकर वास्तविक रुचि का बीजारोपण होता है। फलस्वरूप वह प्राप्त क्षयोपशम ज्ञान को सांसारिक प्रपंचों से बचाकर, सुख प्राप्त करने की ओर लगाता है। ऐसी रुचि प्राप्त जीव को सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव कहकर, क्षयोपशमलब्धि प्राप्त जीव कहा जाता है। इस जीव की इसप्रकार के प्रयास के पुरुषार्थ में पूर्वदशा की अपेक्षा सहजरूप से बिना प्रयास के कषायों में मंदता आ जाती है, वही विशुद्धिलब्धि है। इसकाल में उसकी रुचि का बीज परिपक्वता को प्राप्त करता रहता है। अगर उस बीज को पोषण नहीं मिला तो वह बीज समाप्त भी हो जाता है। लेकिन इस प्रकरण में मात्र ऐसे जीव की रुचि की ही चर्चा करेंगे; जिस जीव ने रुचि का बीजारोपण होने के पश्चात् उसके निरंतर रक्षण-पोषण करते-करते विशाल वृक्ष का रूप धारण करके फल प्रदान करने योग्य बना लिया हो।

उपरोक्त दशा प्राप्त जीव को, सत्समागम अथवा गुरु उपदेश द्वारा, जब यह समझ में आता है कि चतुर्गति में प्राप्त संयोग जनित दु:खों को ही अभी तक मैंने दु:ख माना था, अर्थात् नरक में प्राप्त दुख, तिर्यंचगति में प्राप्त दुख, मनुष्यों में भी दरिद्रताजन्य अथवा रोगादि से प्राप्त दु:खों को ही दु:ख मानकर, देवगति में प्राप्त अनुकूल संयोग एवं पुण्य के उदय से प्राप्त मनुष्यादि के सुखों को सुख मानकर, ऐसी दशा प्राप्त करने के लिये निरंतर रत रहता था। लेकिन अब तो इन सबकों भी, तृष्णा के द्वारा तथा प्राप्त भोगों को भोगने की लालसा द्वारा, तथा

प्राप्त संयोगों को बनाये रखने आदि अनेक प्रकार की तीव्र आकुलता के कारण समझने लगा हूँ।

इसलिये अब गुरु प्रताप से मुझे यह सद्बुद्धि जाग्रत हुई है और समझ में आया है कि दु:ख तो वास्तव में आकुलता है, प्रतिकूल संयोग मात्र नहीं। अत: मुझे तो इस आकुलता के अभावात्मक सुख को प्राप्त करना है, संयोग जनित सुख नहीं चाहिये। इतना अवश्य है कि विपरीत संयोगों में आकुलता अधिक रहती है; इसलिये अनुकूल संयोग प्राप्त होने का सदुपयोग अनाकुल सुख प्राप्त करने में करना है। अनुकूल दशा को अगर मैंने ऐसे सुख प्राप्त करने के मार्ग में नहीं लगाया तो, मैं भी संयोगों को भोगने आदि की गृद्धता और तृष्णा में फंसकर चिंतामणि समान प्राप्त अवसर को खो दूँगा। ऐसे विचार जिसके हृदय में जागृत हुए हों ऐसे जीव की रुचि का अंकुरा पल्लवित होकर प्रगट हो गया। अब उसका रक्षण-पोषण होता रहा तो पूरा फल प्रदान करने वाले वृक्ष का रूप धारण कर लेगा। ऐसी रुचिधारक जीव देशनालब्धि प्राप्त करने की योग्यता को पहुँच जाता है।

उपरोक्त जीव अपनी रुचि के पोषण के लिये अनाकुलता लक्षण सुख प्राप्त करने का मार्ग खोजने के लिये कटिबद्ध हो जाता है और उसकी पूर्ति के लिये गुरु उपदेश एवं सत्समगम आदि के द्वारा मार्ग खोजने का पुरुषार्थ करता है। ऐसे जीव को श्रीगुरु समझाते हैं। हे भव्य ! तेरा सुख किसी अन्य के पास नहीं है, जहाँ से तुझे प्राप्त करना पड़े। तू स्वयं ही सुख का भंडार है। जब तेरी आकुलता का उत्पादन तूं स्वयं ही करता है तो उसका अभाव भी तू ही करेगा। जब आकुलता कहीं बाहर से नहीं आती तो अनाकुलता भी बाहर से कैसे आ सकती है। अत: ऐसे सुख का भण्डार तेरे में ही विद्यमान है, अत: तेरा सुख तुझे तेरे में से ही प्राप्त होगा। फलत: तू पर की आशा छोड़, भिखारीपना

छोड़ और अपने अंदर भरे भण्डार का स्वरूप समझकर तू स्वयं, तेरे द्वारा ही, तेरे ही में से, तू स्वयं के लिए प्राप्त कर सकेगा।

श्रीगुरु के उपरोक्त वचन सुनकर तो आत्मार्थी की रुचि खुशी से हिलौरे मारने लगती है और रुचि का अंकुर पुष्ट होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। ऐसे जीव को अब वास्तविक देशनालब्धि की पात्रता का प्रारंभ हो जाता है और अब वह तीव्र रुचिपूर्वक सद्गुरु का एवं सत्पुरुषों के समागम एवं जिनवाणी के अध्ययन में संलग्न हो जाता है। ऐसा जीव अभी पुण्य-पाप के उदय अनुसार बाहर के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों सहित, गृहस्थोचित कार्यों व्यापारादि में संलग्न रहते हुए वर्तता है। लेकिन, उसकी रुचि ऐसे संयोगों में वर्तते हुए भी अपनी रुचि के पोषण के कार्यों की ओर प्रेरित करती रहती है। फलत: उन संयोगों में रहते हुए भी वह समय बचाकर, वास्तविक सुख के खजाने को खोजने में जाग्रत रहता है।

ऐसे आत्मार्थी को तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किसी भी प्रकार अपने अंदर रहने वाले सुख के खजाने को खोजना चाहिये ? उक्त जिज्ञासा की पूर्ति हेतु वह श्रीगुरु का समागम प्राप्त कर विनयपूर्वक समाधान प्राप्त करता है ऐसे शिष्य को श्रीगुरु समझाते हैं कि हे भव्य ! तुझे यह तो विश्वास है कि अनादि काल से अभी तक तू विद्यमान रहनेवाला पदार्थ है और तेरा अनंत काल तक अस्तित्व बना रहेगा। निगोद में अनन्त काल तक रहकर भी तेरा अस्तित्व तो आज तक अक्षुण्ण बना चला आ रहा है; साथ में यह भी तुझे विश्वास है कि तेरा अस्तित्व कायम रहते हुए भी एक रूप नहीं रहा। निगोद दशा भी तेरी ही थी और अनेक पर्यायें (शरीर) परिवर्तन करते हुए भी तू वही का वही है। इससे स्पष्ट भासित होता है कि तेरे एक के ही अस्तित्व के दो रूप हैं। एक तो नित्य रहने वाला और दूसरा बदलने वाला-पलटने वाला।

आगम का सिद्धान्त भी है ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' श्रीगुरु पूछते हैं कि दोनों प्रकार के अस्तित्व में से तुझे किस रूप में बने रहना इष्ट है ? सहज रूप से उत्तर मिलेगा कि अस्तित्व का बदलना ही तो मृत्यु है, इसलिये हर क्षण जीवन-मरण कौन चाहेगा ? फलत: एकरूप ध्रुव बने रहना ही सबको इष्ट है। स्थिति भी वास्तव में ऐसी ही है, मेरा अस्तित्व तो ध्रुव रूप ही है।

तात्पर्य यह है कि अपना जीवन ध्रुवरूप चाहने वाला सुख भी ध्रुवरूप ही चाहता है। जिसका क्षण-क्षण नाश हो जावे ऐसा सुख कोई भी नहीं चाहेगा। तब श्रीगुरु करुणापूर्वक समझाते हैं कि भाई तेरे अनाकुल सुख का खजाना वह ध्रुव ही तो है। इस क्षण-क्षण बदलने वाली पर्याय में तेरा ध्रुवसुख कैसे रह सकेगा। अत: तेरी एक समयवर्ती पर्याय में से तुझे सुख मिलेगा कैसे ? असम्भव है, अत: नि:शंक होकर विश्वास कर कि अक्षुण्ण रहनेवाले अनन्त सुख का खजाना (भण्डार) तू स्वयं ही है। जब तू तेरा जीवन ही ध्रुव मानता है और सुख भी कभी नाश नहीं होवे ऐसा चाहता है तो विचारकर कि ऐसा सुख ऐसी अध्रुव-अनित्य पर्याय जिसका जीवनकाल ही मात्र एक समय का है, उसमें से कैसे प्राप्त होगा। ऐसा समझकर ध्रुव को ही शरणभूत मानकर, पर्याय का प्रेम (मोह) छोड़ दे और उस ही का आश्रयकर अर्थात् नि:शंकता पूर्वक अपनेपने की श्रद्धा कर।

भगवान अरहंत का आत्मा भी पूर्वभवों में निगोद से निकलकर ही मनुष्य हुआ था; वह भी उन भवों में तेरे समान दुखी रहता था। उनका सुख भी उनके ध्रुव रूपी खजाने में अनादि काल से अक्षुण्ण बना चला आ रहा था। उनने भी जब अपने ध्रुव के खजाने की श्रद्धा की तो उनकी भी अनादिकाल से चली आ रही पर्यायदृष्टि अर्थात् पर्याय में अपना अस्तित्व मानने की मान्यता छूट गई अर्थात् समाप्त

हो गई। फलस्वरूप उनको द्रव्यदृष्टि हो गई। उनने ध्रुव की शरण लेकर, उसही की साधना की तो खजाने में भरा हुआ अनन्त अतीन्द्रिय सुख पर्याय में प्रगट हो गया, अब वे द्रव्य एवं पर्याय से सुखी रहकर, उक्त आनन्द के साथ प्रगट होनेवाली सर्वज्ञता आदि अनन्तगुणों का भोग करते रहेंगे अर्थात् स्वाद लेते रहेंगे (अनुभव करते रहेंगे)।

हे भव्य ! तू विचार कर अगर उनके ध्रुवरूपी खजाने (भण्डार) में उनका सुख होता ही नहीं तो उनकी पर्याय में प्रकट कैसे व कहाँ से हो जाता। जो प्रगट हुआ वह कहीं बाहर से आया नहीं। इसलिये तुझे भी नि:शंक होकर, ऐसी श्रद्धा जाग्रत करनी चाहिये कि मेरा सुख भी मेरे ध्रुवरूपी खजाने में पूरा का पूरा जितना व जैसा सिद्ध भगवान को प्रगट हुआ, वह हर समय (ध्रुव में) निरंतर विद्यमान रहता है। लेकिन ऐसा वर्तते हुये भी तुझे विश्वास (श्रद्धा) नहीं होने से तू, तेरे ही ध्रुव के खजाने का तिरस्कार कर, तेरी अध्रुव क्षणिक पर्याय में से सुख प्राप्त करने के विश्वास से पर्याय को ही शरणभूत मानकर वर्तता रहा है। विचार कर, तेरे को सफलता कैसे प्राप्त होगी ? तू अपने सुख को आत्मा से अत्यन्त भिन्न वर्तनेवाले स्त्री-पुत्र-मित्र-मकान-धन वैभव आदि में से प्राप्त करने के प्रयास करता है। उन्हीं के सेवन से प्राप्त इन्द्रियजन्य सुख जो कि नाशवान होने से तुझे तीव्र आकुलता का उत्पादन करते हैं; उनको ही सुख मानकर उन्हीं के रक्षण पोषण में अमूल्य अवसर नष्ट कर देता है। मृत्यु प्राप्त होने पर अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा, जिसमें ऐसे सत् संयोग प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हो जावेगा।

तदुपरान्त अच्छी होनहार से सत् उपदेश प्राप्तकर, उपरोक्त विषयों की स्थिति समझकर, विषयों से विरक्ति को प्राप्त होता है। ऐसे अवसर में भोगने की गृद्धता में कमी आ जाने से कुछ कषायों की मंदता

हो जाती है। बहुत से जीव तो ऐसी मंदता प्राप्त कर, उसे ही धर्म मानकर, उसमें ही संतोष प्राप्त कर, बाहर के संयोगों से उदास रहने लगते हैं। बहुत जीव, विषयों के निमित्तभूत संयोगों को अधर्म का कारण मानकर, अंतरंग में विरक्ति नहीं होते हुए भी हठपूर्वक ऐसे संयोगों के प्रति द्वेष बुद्धिपूर्वक इन्द्रिय दमन को ही धर्म मानकर, ऐसी जड़ की (शरीरादि) की क्रिया को ही धर्म मानकर, ऐसी क्रियाओं के बढ़ाने की ओर लग जाते हैं। ऐसे जीवों को तो आकुलता को ही धर्म अथवा धर्म का साधन मान लेने से अनाकुलता रूपी वास्तविक सुख प्राप्त करने का अवकाश ही नहीं रहता। ऐसे जीव ध्रुव रूपी खजाने की खोज करने वालों को अधर्मी मानकर उनका तिरस्कार करते हैं।

कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि सत्यार्थ उपदेश प्राप्तकर, उपरोक्त कथित मिथ्या मार्ग में नहीं फँसकर, अपने भावों के सुधारने की ओर अग्रसर होते हैं। वे आकुलता को दुख एवं दु:ख का कारण मानते हुए, आकुलता की कमी अर्थात् मंदता करने को ही धर्म अथवा धर्म के कारण मानकर, ऐसे उपाय करने के प्रति सावधान रहकर, उन्हीं के करने में जीवन भर लगे रहते हैं। उनको ऐसा विश्वास (श्रद्धा) होता है कि क्रमश: कषायों को मंद करना ही सुखी होने का उपाय है। ऐसे जीवों को भी सुख का खजाना खोजने की आवश्यकता नहीं लगती। अत: ऐसे जीव भी वास्तविक मार्ग से वंचित रहते हैं। जो ध्रुव की खोज में लगे हुए हैं, उनको अधर्मी समझकर उपेक्षा करते हैं। लेकिन ऐसे जीवों को अगर कभी सद्बुद्धि जाग्रत हो तो वे सत् उपदेश प्राप्त कर यथार्थ मार्ग समझने के प्रति अग्रसर हो सकते हैं। अन्यथा ऐसे जीव कषायों की मंदता के कारण स्वर्गादिक प्राप्तकर, फिर संसार में ही भ्रमण करते रहेंगे, संसार का अभाव नहीं कर सकेंगे।

कुछ जीव ऐसे होते हैं, जो रागादि भावों को आकुलता –

दु:ख का कारण मानते हैं। अत: रागादि मिटाने का प्रयास तो करते हैं; लेकिन यथार्थ मार्ग के अभाव में शास्त्रों का अध्ययन अपनी दृष्टि रखकर करते है, उनका मानना होता है कि चारों अनुयोगों में बताया मार्ग अनुसरण करने योग्य है। अत: उपयोग रमाने के लिये प्रथमानुयोग के ग्रन्थ पढ़ते हैं, द्रव्यानुयोग के अनुसार आत्मा को शुद्ध मानकर, रागादिभावों का अभाव करना चाहते हैं, करणानुयोग के शास्त्र पढ़कर, रागादि का कारण द्रव्यकर्मों के उदय को मानकर, उनके नाश का उपाय चरणानुयोग में कथित निश्चय आचरण को न समझते हुए, व्यवहारचारित्र को ही उनके नाश का उपाय मानते हुए शरीरिक क्रिया काण्ड को ही वास्तविक धर्म मानकर, उनमें ही कर्तृत्वबुद्धि की मान्यता के साथ संलग्न रहते हैं। इस प्रकार वे जीव अपने आत्मा को कर्मों के आधीन मानकर, पराधीन बुद्धि पूर्वक प्रवर्तते हुए, सत्यार्थ मार्ग से अत्यन्त दूर वर्तते हुए, अमूल्य जीवन निष्फल खो देते हैं।

जो जीव द्रव्यानुयोग के अनुसार अनाकुलता लक्षण सुख के खजाने की खोज में संलग्न है, उनको एकांतवादी मिथ्यादृष्टि मानकर मिथ्यामार्गी जानते-मानते व कहते हैं। ऐसे जीव भी सत्यार्थ मार्ग प्राप्त करने की पात्रता से अत्यन्त दूर वर्तते हुए, जीवन समाप्त कर देते हैं। तात्पर्य ऐसा है कि इसप्रकार की मान्यता वाले व्यक्तियों अथवा गुरुओं अथवा उपदेशकों से सावधान रहना चाहिये और अपने मार्ग से च्युत नहीं होना चाहिये।

उपरोक्त प्रकार के जीवों की ऐसी मान्यता होती है कि परद्रव्य की क्रिया जिनको आत्मा कर ही नहीं सकता, उनकी पर्याय का कर्ता तो उनका द्रव्य है, लेकिन अपने को उनका निमित्तकर्ता मानकर, उन्हीं के कर्तृत्व में संलग्न रहते हैं। सुख के खजाने की खोज नहीं करते। तात्पर्य यह है कि परमुखापेक्षी वृत्ति द्वारा, वह ध्रुवरूपी खजाना किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं होगा।

उपरोक्त कथन सुनकर आत्मार्थी जीव उपरोक्त प्रकार से मार्ग भ्रष्ट होने से बचने के लिये पूर्णतया सावधान हो जाता है और पुन: प्रश्न करता है।

अनन्त सुख का भण्डार ध्रुव ही है ऐसी श्रद्धा होने का उपाय

प्रश्न – हे गुरुदेव ! ध्रुव रहनेवाला सुख का खजाना मेरा ही ध्रुव स्वभाव है और वह ध्रुवभाव कभी साथ छोड़ता भी नहीं, प्रत्येक पर्याय में साथ रहता है; ऐसा आपने बताया और मुझे भी ऐसा ही लगता है। लेकिन फिर भी मुझे ऐसा विश्वास क्यों नहीं होता ? मेरी वृत्तियाँ तो निरंतर सुख की खोज में बाह्य परपदार्थों की ओर ही आकृष्ट रहती हैं ? अत: अपने ध्रुव का विश्वास कैसे हो ? कृपाकर बताइये।

उपरोक्त प्रश्न उत्पन्न होने के समय आत्मार्थी की रुचि अनाकुलता लक्षण सुख प्राप्त करने के लिये कितनी उग्र हो गई होगी; इसका अनुमान तो हम कर ही सकते हैं। हमारा यह प्रकरण मुख्यत: रुचि की उत्तरोत्तर सहज बढ़ने वाली उग्रता को बताने वाला प्रकरण है। अब वह आत्मार्थी प्रत्येक वचन को अमृत समान मानकर तीव्र जिज्ञासापूर्वक, रुचि के साथ ग्रहण करता है। ऐसे आत्मार्थी की रुचि देखकर श्रीगुरु भी समझाते हैं।

उत्तर – श्रीगुरु समझाते हैं कि हे भव्य ! तू यह तो समझकर निर्णय कर ही चुका है कि ध्रुवतत्त्व तो प्रत्येक आत्मा का समान ही है। वर्तमान में सिद्ध भगवान की आत्मा के ध्रुव में और तेरे ध्रुव में किंसी प्रकार का किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं है। अन्तर तो इतना ही है कि सिद्ध की आत्मा ने ध्रुव में भरे अटूट भण्डार को सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा खोल लिया और उसमें भरे अनंतसुख-अनंतज्ञान-

अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुणों के निधान को अपनी पर्याय में प्रकट कर दिया। उनकी ऐसी पर्यायों के द्वारा, ध्रुव में बसी हुई अनन्तसामर्थ्यों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप तुझे तेरे ध्रुव की अन्तर में महिमा जाग्रत हो जावेगी। तेरे ध्रुवभाव की शरण लेने से तेरा आत्मा भी सिद्ध भगवान बन सकेगा और अनन्त काल तक सर्वज्ञता के साथ अनन्तसुख का भोक्ता बन जावेगा। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होने पर, बाह्य के सभी सांसारिक सुखों के आकर्षणों को तिलाञ्जलि देकर, एकमात्र तेरा ध्रुवभाव ही तेरे आकर्षण का विषय है; ऐसी नि:शंक श्रद्धा उत्पन्न ही जावेगी। यह फल अपने ध्रुव स्वभाव की अन्तर में महिमा के साथ विश्वास आने का है। जिनमार्ग में श्रद्धा को ही धर्म का मूल कहा है; यथा ''दंसण मूलोधम्मो''। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है ''सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणीमोक्षमार्ग:'' अर्थात् सम्यग्श्रद्धा के साथ ज्ञान और चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। बिना सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न हुए, ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या रहते हैं वे तीनों संसारमार्गी ही होते है। और सम्यक् श्रद्धा होते ही ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है और अनंतानुबंधी (रागादि) का अभाव होकर सम्यक् चारित्र भी प्रारंभ होकर, मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है।

उपरोक्त सहज व सरल मार्ग सुनकर आत्मार्थी की रुचि और भी उग्र हो जाती है और ऐसी श्रद्धा जाग्रत करने के लिये अति उत्साहवान होकर आत्मार्थी श्रीगुरु से पुन: प्रश्न करता है –

सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने का उपाय

प्रश्न – हे प्रभो ऐसी सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने का मार्ग बताईये ?

उत्तर – उक्त सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रारंभिक उपाय ही,

समयसार ग्रन्थाधिराज की गाथा १ की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव ने बताया है –

''ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को भाव-द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में तथा पर (शिष्य) के आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का.....।'' यह कहकर आचार्य श्री ने तेरे आत्मा में भी सिद्धत्व की स्थापना करने की प्रतिज्ञा की है। इससे तुझे विचारना चाहिये कि तेरी आत्मा में कौनसा ऐसा स्थान है ? जिसमें सिद्धत्व का स्थापन किया जा सकता है। विचार करने पर तुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सिद्धत्व तो ध्रुव बना रहता है, सिद्धपना एक बार प्रगट होने के बाद अनन्तकाल तक बने रहने वाला ध्रुव है। अत: वह तो मेरे ध्रुव में ही विराजमान किया जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि आचार्य श्री समझाते हैं कि तू स्वयं ध्रुव रहने वाला पदार्थ है और सिद्धत्व भी ध्रुव है, अत: निश्चित हुआ कि तेरा अस्तित्व ही सिद्ध समान है – यही तात्पर्य है सिद्धत्व को तेरे ध्रुव में स्थापन करने का।

हे शिष्य ! अब प्रमुदित होकर यह स्वीकार कर कि श्रद्धा अपेक्षा तो मैं सिद्ध ही हूँ। ये पर्यायें जो क्षण-क्षण में उत्पाद-व्यय करती हुई। मेरे में ज्ञात हो रही है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत करना ही इस कथन का तात्पर्य है। ऐसी स्थापना करने का लाभ क्या होगा, यह भी आचार्यश्री उक्त टीका में ही आगे बताते हैं।

''वे सिद्ध भगवान (जिनको तेरे आत्मा में स्थापन किया है) सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं (प्रतिच्छन्द का अर्थ है प्रतिध्वनि) जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति – मोक्ष को प्राप्त करते हैं।''

उक्त प्रकार से आचार्यश्री ने तेरे आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना का फल भी बता दिया है। तात्पर्य यह है कि आचार्य बताना चाहते हैं कि तेरे आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना मात्र शब्दों में नहीं की है वरन् सिद्ध भगवान की प्रगट हुई अवस्था अर्थात् सिद्धत्व की स्थापना तेरे ध्रुव में की है; क्योंकि प्रतिध्वनि में – बोलने वाला जो शब्द बोलता है, वे ही शब्द प्रतिध्वनि में सुनाई पड़ते हैं। इसी प्रकार आचार्यश्री ने सिद्धत्व की स्थापना ध्वनि द्वारा की है, तो प्रतिध्वनि मिलती है कि तू सिद्ध है अर्थात् आचार्यश्री कहना चाहते हैं कि हमारे सिद्धत्व की स्थापना द्वारा तू स्वयं सिद्ध है, ऐसी श्रद्धा करने का संकेत देते हैं। अब तुझे उनके समान ही अपने सिद्ध स्वभावी ध्रुव को श्रद्धा में लेकर, उनके समान अपने आत्मा को मानकर, अर्थात् श्रद्धाकर और परिणति को सब ओर से समेटकर, एकमात्र सिद्धस्वभावी तेरे ध्रुव में एकाग्र करने से ही तू स्वयं सिद्ध भगवान बन जावेगा। ऐसा महान फल तुझे तेरे आत्मा में सिद्धत्व स्थापना का प्राप्त होगा। अर्थात् मेरा अस्तित्व ही सिद्ध स्वभावी आत्मा के रूप ही है। अभी तक जैसा मानता चला आ रहा था ऐसा पर्यायस्वभावी नहीं है; क्योंकि मैं तो ध्रुव रहने वाला हूँ और ये पर्यायें अनित्य स्वभावी हैं। अत: मैं तो ध्रुव स्वभावी हूँ। ऐसी नि:शंक श्रद्धा उत्पन्न होकर, पर्याय जैसा मानने की श्रद्धा का अभाव होने से ही सम्यक् श्रद्धा का जन्म होगा। ऐसा सुनकर आत्मार्थी की रुचि और भी ज्यादा उग्र हो जाती है और सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है।

सिद्ध भगवान की पर्याय का स्वरूप

प्रश्न – सिद्ध भगवान की आत्मा का सिद्धत्व उनकी पर्याय में प्रकाशित हो गया, अत: उनको तो उसका लाभ (अनुभव) हो रहा

है; लेकिन वह हमको तो है नहीं, फलत: उसको प्रगट करने का उत्साह जाग्रत नहीं होता; तब फिर श्रद्धा उत्पन्न कैसे होगी ? अत: कृपाकर उनकी प्रगट पर्याय की विशेषताएँ बताइये ?

उत्तर – हे भव्य ! सिद्ध भगवान की प्रगट पर्याय की विशेषताएँ तो अनन्त हैं, लेकिन उनमें वीतरागता एवं सर्वज्ञता की प्रगटता ही हमको मोक्षमार्ग प्रारम्भ करने में सर्वोत्कृष्ट विशेषता है। संसारी प्राणियों को इनसे विपरीत दो प्रकार के अवगुण उत्पन्न होते रहते हैं, जिनका अनुभव भी होता हैं। वे दोनों अवगुण है – एक तो सुख प्राप्ति के लिये माने हुए सुख के साधनों को प्राप्त करने की इच्छा, और दूसरा, नहीं जाने हुए पदार्थों को जानने की इच्छा – ये दोनों प्रकार की इच्छाएँ ही आत्मा की सबसे बड़े शत्रु रागद्वेषादि भावों को उत्पन्न करने वाली जननी है। इन्हीं दोनों प्रकार की इच्छाओं का सिद्ध भगवान में अभाव हो गया है। अनन्तसुख तो पूर्ण वीतरागी होने पर प्रगट हो गया। अत: सुख प्राप्त करना शेष रह नहीं गया और रागादिक के अभाव से अज्ञात को जानने की इच्छा ही नहीं रही अत: सर्वज्ञता प्रगट हो गई। तात्पर्य यह है कि इच्छाओं अर्थात् रागादि का अभाव होते ही उपरोक्त दोनों गुणों के साथ अनन्तगुण प्रगट (प्रकाशित) अनुभव में आ जाते हैं। इसी का नाम सिद्धत्व है।

उपरोक्त कथन पर चिंतन-मनन करने से आत्मार्थी को ऐसा विश्वास तो जाग्रत होता है कि वास्तव में मुझे इच्छाएँ तो उपरोक्त दोनों प्रकार की ही होती हैं और इन इच्छाओं की पूर्ति हेतु ही रागादिभाव उत्पन्न होते हैं और रागादि का उत्पन्न होना ही आकुलता अर्थात् दु:ख है। अत: इन इच्छाओं का अभाव हुए बिना मैं कभी सुखी नहीं हो सकूँगा। ऐसा विचारकर शिष्य पुन: प्रश्न करता है।

दोनों प्रकार की इच्छाओं के अभाव का उपाय

प्रश्न – शिष्य जिज्ञासापूर्वक प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! इन दोनों प्रकार की इच्छाओं के अभाव करने का मार्ग बताईये ?

उत्तर – उपरोक्त कथन तो मात्र ध्रुव में सिद्धत्व स्थापन करने की अर्थात् श्रद्धा में अपने को सिद्ध समान मानने की महिमा बताने के संदर्भ में किया था। उपरोक्त कथन ज्ञान द्वारा स्वीकार कर लेना मात्र ही सम्यक् श्रद्धा के जन्म हो जाने का प्रमाण नहीं है। ऐसी समझन तो ११ अंग नौ पूर्व के पाठी द्रव्यलिंगी साधु को भी हो जाती है, लेकिन फिर भी वह संसारमार्गी ही रहता है। हे भव्य ! तेरे प्रश्न से ऐसा लगता है कि तू भी उपरोक्त प्रकार की भूल से ग्रसित हो गया है। उक्त कथन सुनकर तुझे श्रद्धा उत्पन्न करने की प्राथमिकता छूटकर, रागादिक अभाव करने की उतावली जाग्रत होकर तू छलांग मारकर श्रद्धा के सम्यक् होने के पहले ही रागादि के अभाव करने को उत्साहित हुआ है। लेकिन अब सावधान होकर यथार्थ मार्ग से च्युत नहीं होना, यही सारभूत है।

सम्यक् श्रद्धा प्रगट करने का वास्तविक उपाय तो यह है कि सर्व प्रथम रुचि की उग्रतापूर्वक उपरोक्त कथन सुनकर, अपने चिंतन-मनन द्वारा, अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा परखकर, अपने क्षयोपशम में नि:शंकता के साथ पक्का निर्णय करे कि उपरोक्त कथन शत-प्रतिशत सत्य है, मुझे भी ऐसा ही भासता है। फलत: विकल्पात्मक ज्ञान में नि:शंक रूप से निर्णय करता है अर्थात् स्वीकारता है कि ध्रुव रूप ही मैं हूँ और ध्रुव सिद्ध स्वभावी होने से मेरे निर्णय में तो मैं सिद्ध ही हूँ।

अब तो मुझे मेरा सिद्धत्व पर्याय में प्रकट करना है और एक मेरे ध्रुव को ही शरणभूत मानता हुआ, पर की ओर से अपनापन समेटकर अपने ज्ञान-श्रद्धान में मात्र एक ध्रुव में ही अपनापन स्थापन कर लेना

है। यह भी निर्णय करता है कि अब तक तो मैं ध्रुव को भूलकर अन्य सबको – स्त्री पुत्रादि धन पैसा मकानादि तथा शरीरादि को मेरा मानता चला आ रहा हूँ, तथा उनको मेरा मानकर उन्हीं में एकत्व-ममत्वकर-कर्तृत्व भोर्तृत्व करता हुआ उन्हीं में रचा-पचा रहता आया हूँ; अब उनसे मेरापने का अभिप्राय छोड़कर अपने ज्ञायक ध्रुव को ही अपना मानने का निर्णय करता हूँ। साथ ही विचारता है कि मेरे आत्मा में रागादि भावकर्म उत्पन्न होते हैं, उन पर भी स्वामित्व मानकर अभाव करने में लगे रहने पर भी उन पर किञ्चित् मात्र भी अधिकार चलता नहीं, वे तो अपने जन्मक्षण में अपनी योग्यतानुसार उत्पन्न होते और विनष्ट होते रहते हैं, अत: उनके अभाव का प्रयास अपने पुरुषार्थ का दुरुपयोग करना है। और यह भी अनुभव करता है कि उनके परिणमन का ज्ञान तो होता है, उसके समय, उनको मेरे में हुए मानता हूँ तो मेरे ज्ञायक स्वभावी ध्रुव को मेरा मानना छूट जाता है और उनका संयोग मेरे में होकर उनको रक्षण-पोषण मिलने से वे बढ़ते ही रहते हैं।

अगर मैं उनसे मेरा स्वामित्व छोड़कर, अपने ध्रुव ज्ञायक की ओर, अपने ज्ञान श्रद्धान को मोड़ दूं तो इनका संयोग भी नहीं होगा और इनका उत्पन्न होना भी रुक जावेगा। इसलिये इनका स्वामी उन पर्यायों को अथवा जिनके निमित्त-नैमित्तिक संबंध से उनकी उत्पत्ति होती है, उनको ही मानकर उनकी ओर से विमुख रहने का आत्मार्थी निर्णय करता है एवं उनके साथ स्वामित्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व एकत्व-ममत्व आदि सभी सम्बन्ध विसर्जन करने का निर्णय कर लेता है।

इसप्रकार आत्मार्थी अपने विकल्पात्मक ज्ञान के निर्णय द्वारा श्रद्धा को परिवर्तित कर, उन सबकी ओर से अपने पुरुषार्थ को समेटकर एक अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर मोड़ लेने का निर्णय और प्रयत्न करता है।

तदुपरान्त विचारता है कि अनन्त गुण जो अभेद रूप से आत्मा में बसे हुए हैं, उनको समझने में एवं प्रत्येक गुण के कार्यों (पर्यायों) को समझने में मेरा ज्ञान उलझकर, ज्ञायक की ओर एकाग्र होने में बाधा करता है। अत: उनके भी परिमणनों के स्वामी उन्हीं को स्वीकार करते हुए, उनमें भी अपनी परिणति को नहीं अटकने देने का निर्णय करता है। गुण तो द्रव्य में अभेद ही बसे हुए हैं; उनके भेदों में उलझने से मेरी परिणति बर्हिलक्ष्यी बनी रहती हुई अपने ज्ञायक से विमुख रहती है। अत: इनमें नहीं अटकने के लिये इनको समझने आदि का मोह (प्रेम) छोड़कर परिणति को अशरण कर देना चाहिये। अंतत: जहाज पर बैठे पक्षी की भाँति, कोई शरणभूत नहीं रहने से, परिणति को अपना ज्ञायकभाव ही एकमात्र शरणभूत रह जावेगा तब अन्य द्वैत का अभाव रहने से उपयोग अपने ज्ञायक में ही एकाग्र हो सकेगा और निर्विकल्प होकर ज्ञायक की शरण प्राप्तकर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव आस्वादन कर तृप्त हो जावेगा। ऐसी दशा प्राप्त होते ही, श्रद्धा भी सम्यक् होकर नि:शंकतापूर्वक ध्रुवरूप ही अपना अस्तित्व मानने लगेगी, ज्ञान भी सम्यक् होकर ज्ञान की भी स्व-पर प्रकाशकता प्रगट होकर परिणमने लग जावेगा एवं चारित्र भी सम्यक् होकर अनन्तानुबंधी के अभावात्मक स्थिरता प्राप्त कर स्वरूप में आचरण करने लग जावेगा। इसप्रकार अनन्त गुणों का स्वरूप में आचरण हो जाने से, पर्याय में भी आंशिक सिद्धत्व प्रगट हो जावेगा। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जावेगा।

उपरोक्त स्थिति प्राप्त कराने का श्रेय अकेले क्षयोपशम ज्ञान के नि:शंक निर्णय को नहीं है, अपितु आत्मार्थी की उत्तरोतर बढ़ती हुई रुचि की उग्रता को है। रुचिरहित उपरोक्त प्रकार का निर्णय कभी भी उपरोक्त दशा उत्पन्न नहीं करा सकता। उसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि रुचि जैसे बढ़ती जाती है उसके साथ उतने ही अंश में मिथ्यात्व

एवं अनंतानुबंधी के निषेक भी क्षीण होते जाते हैं; क्षयोपशम ज्ञान के निर्णय में इस सामर्थ्य का अभाव है। आगम में कहा भी है ''रुचिमेव सम्यक्तं'' एवं ''रुचिअनुयायी वीर्य'' तथा वीर्य गुण का कार्य है ''स्वरूप की रचना करे सो वीर्य''। अत: सम्यक् स्वरूप की रचना करने में जो रुचि लगी रहती है उससे सम्यक्त्व प्राप्त होने योग्य पात्रता उग्रता के अनुसार क्रमश: बढ़ती रहती है। और अन्त में मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के निषेक जो क्षीण हो चुकने के कारण निर्बलता को प्राप्त हो चुके थे, वे निर्विकल्प आत्मानुभव होते ही समूल नष्ट हो जाते हैं। यह योग्यता रुचिविहीन ज्ञान के निर्णय में नहीं है, उसका प्रमाण है ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी द्रव्यलिंगी साधु। स्पष्ट है कि सम्यक्त्व प्राप्त करने का श्रेय एकमात्र रुचिसहित विकल्पात्मक भूमिका में किये गये निर्णय को है। न ज्ञान को है और न सम्यक् विहीन व्यवहार-चारित्र के साधन को। ऐसा समझकर आत्मार्थी को मार्ग से च्युत नहीं हो जाने से सावधान रहना चाहिये।

उपरोक्त पद्धति अपनाने से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है। यह कथन तो मात्र मार्ग समझने के लिये किया गया है। इस पद्धति के समझ लेने मात्र से सम्यक्त प्राप्त नहीं हो सकता। प्राप्ति तो रुचि की उग्रता के साथ उपरोक्त मार्ग अपनाकर अपनी रुचि एवं परिणति को बाहर से समेट कर सभी आकर्षणों से विमुख करने से होगी। तथा जब रुचि एवं परिणति का, अकेले ज्ञायक में आकर्षण रह जावेगा तब ज्ञान आत्मलक्षी होकर ज्ञायक में एकाग्र होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकेगा। मात्र सुन-समझकर एकान्त में बैठकर ध्यान मुद्रा धारणकर, उपरोक्त प्रकार के विकल्प करने से, उक्त मार्ग का अंश भी प्रगट नहीं हो सकेगा। अपितु वह सत्यार्थ मार्ग से और भी दूर हो जावेगा, क्योंकि वीतरागी दशा प्रगट करने का उपाय, रागादि सहित के विकल्प नहीं हो सकते।

ज्ञानी की सविकल्प दशा में वर्तनेवाली दशा

प्रश्न – हे प्रभो ! सम्यक्त्व प्राप्त होकर ज्ञानी जीव के निर्विकल्प दशा में रहने का काल तो अति अल्प होता है। तत्पश्चात् विकल्पदशा हो जाने पर क्या स्थिति रहती है। ज्ञानी को भी अपनी दशा मापते रहने के लिये, इसका ज्ञान आवश्यक है। अत: कृपाकर समझाइये?

उत्तर – यह सत्य है कि ज्ञानी को भी अपनी भूमिका को सुरक्षित रखने के लिये उपरोक्त जानकारी उपकारी होने से जानना आवश्यक है।

निर्विकल्पदशा में आत्मा के अनंत गुणों का अभेद स्वाद आता है, इस दशा के अनुभव को स्वसंवेदन कहा गया है। स्वसंवेदन का अर्थ अपने आपको भली प्रकार जानना अर्थात् स्वाद लेना है। इस दशा में श्रद्धा ने तो अपना अस्तित्व ध्रुवरूप मानकर श्रद्धा कर ली। श्रद्धा जबतक जीवित रहेगी वह ध्रुव के अतिरिक्त अन्य रूप अर्थात् क्षणिक पर्याय रूप अथवा शरीर रूप अथवा बाहर के स्त्री-पुत्रादि रूप अपने को नहीं मान सकती और न उनको अपना मान सकती है। विकल्पात्मक दशा की पर्याय में भी ऐसा परिणमन अनवरतरूप से चलता रहता है। इसके साथ ही ज्ञान ने अपने स्वरूप को अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अपना जान लिया और अतीन्द्रिय अनाकुल सुख जो प्रगट हुआ, उसका संवेदन प्रत्यक्ष हुआ, उसका भी ज्ञान आत्मा को हुआ, ज्ञान का उपयोग विकल्पात्मक होकर बाहर निकल कर पर की ओर आकृष्ट हो भी जावे तो भी इन सब का ज्ञान तो निरंतर वर्तता ही रहता है। साथ ही अनंतानुबंधी के अभावात्मक आत्मा के सुखगुण सहित सर्वगुणों का आंशिक आचरण अर्थात् स्थिरता-लीनता-तन्मयता हो जाने से, अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद-अनुभव-वेदन भी प्रत्येक पर्याय में आंशिक प्रगट होकर स्वाद में आता रहता है।

तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प उपयोगात्मक ज्ञान उत्पन्न होते ही सिद्ध भगवान की पर्याय में प्रगट अतीन्द्रिय आनंद का नमूना (बानगी) तो आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन में आ जाता है। तदुपरान्त ज्ञान के विकल्पात्मक होते ही ज्ञान उपयोगात्मक पर की ओर आकृष्ट हो जाता है, फलत: उक्त आनन्द के वेदन का स्वाद तो नहीं रहता लेकिन चारित्रमोह की आंशिक अभावात्मक स्थिरता तो सदैव बनी रहती है। अत: ज्ञान के विकल्पात्मक होकर परलक्ष्यी हो जाने पर भी उसका ज्ञान अज्ञानी के समान विपरीत नहीं हो जाता वरन् चारित्रात्मक स्वरूपाचरण हो जाने से सर्व गुणों का अंश तो अभेद होकर, आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान में, आंशिक आनंद के वेदन सहितवाला निरन्तर वर्तता ही रहता है। ध्रुव अभेद आत्मा स्व के रूप में अर्थात् ऐसा आत्मा मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा सहित का ज्ञान निरंतर वर्तता ही रहता है। फलस्वरूप परलक्ष्यी ज्ञान वर्तने की दशा में भी सहजरूप से बिना प्रयास या विकल्प करे, ज्ञानी का ज्ञेयों के साथ भेदज्ञान वर्तता रहता है, यह ही है वास्तविक भेदज्ञान। जो कि ज्ञानी को संवरपूर्वक निर्जरा का कारण बनता है और परज्ञेयों में ज्ञान के उलझने पर भी उनसे एकत्व नहीं होने देकर परत्व-भिन्नत्व बनाये रखता है। अपने सिद्ध स्वभावी ध्रुव में अपनत्व की ही ऐसी अपार महिमा है।

उपरोक्त दशा प्राप्त ज्ञानी, चारित्र की निर्बलता के कारण (कर्मादिक के कारण नहीं) अपने ध्रुवभाव की इतनी महिमा जाग्रत नहीं कर पाता कि ज्ञान का उपयोग पर की ओर आकृष्ट ही नहीं होवे अर्थात् झुके ही नहीं। ऐसी निर्बलता ज्ञानी के ज्ञान में निरंतर खटकती रहती है; और निर्बलता के अभाव करने का उपाय भी अपने ध्रुव में आकर्षण बढ़ाना ही मानता है। इसके लिये भेदज्ञान के निरंतर अभ्यास द्वारा जाग्रत रहकर अपने पुरुषार्थ को मात्र इस ही की पूर्ति में लगा देता

है। और इसी को पुरुषार्थ का यथार्थ उपयोग मानता हुआ प्रवर्तता रहता है। फलत: क्रमश: तारतम्यतापूर्वक स्थिरता को बढ़ाता हुआ, पूर्णदशा प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न – इसप्रकार तो जिनवाणी में बताया हुआ व्यवहार चारित्र का कथन, सब निरर्थक ठहरेगा ?

उत्तर – ऐसा नहीं है। व्यवहार चारित्र नाम ही यह घोषित करता है कि वह निश्चय अर्थात् वास्तविक चारित्र नहीं है, लेकिन निश्चय चारित्र के साथ ही अबिनाभावीरूप से पूर्ण होने तक पर्याय में अवश्य वर्तता है; ऐसा सहज वर्तने वाला अनिवार्य निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इस ही कारण व्यवहार चारित्र को निमित्त एवं सहचारी भी कहा जाता है। साथ ही साधक आत्मा को इसका ज्ञान भी अवश्य ही होता है। कारण विकल्पात्मक भूमिका में निश्चय चारित्र के साथ अबिनाभावी रूप से सहजरूप से वर्तने वाले परिणमनों का यथार्थ ज्ञान होने से ज्ञानी को अपनी निश्चय चारित्र की भूमिका का माप भी होता रहता है। गुणस्थानों की जिस-जिस भूमिका में चरणानुयोग में कथित व्यवहार के विकल्प (रागादि भाव) उत्पन्न होते रहना संभव है, वहाँ तक के भावों का होना वर्जनीय नहीं है, लेकिन जिसको उस मर्यादा को उल्लंघन करने वाले भाव (राग-विकल्प) उत्पन्न हो जाते हैं तो वह सावधान होकर स्वरूप स्थिरता बढ़ाकर अपनी आत्मा को मार्ग से च्युत नहीं होने देगा; अन्यथा अपनी अमूल्य भूमिका का अभाव कर देगा और संसारमार्गी हो जावेगा। व्यवहार चारित्र द्वारा अपने परिणाम को मापते रहनेवाले के लिये इसी कारण अतिचार-अनाचार का विधान है और ऐसे दोषों का अभावकर आत्मस्थिरता द्वारा पुर्नस्थापन करने के लिये व्यवहार ग्रन्थों में प्रायश्चित आदि का भी विधान है। इसीलिये जिनवाणी में कथन है कि साधक को "व्यवहार

जाना हुआ प्रयोजनवान् है" अर्थात् व्यवहार के द्वारा अपनी भूमिका मापते रहना प्रयोजनभूत है।

प्रश्न – इसप्रकार तो व्यवहार चारित्र की मर्यादा मात्र भावों तक रहती है, लेकिन जिनवाणी में शारीरिक क्रियाओं के परिवर्तन को भी व्यवहार कहा है ? अत: इसका संबंध किसप्रकार है ?

उत्तर – हे भव्य ! तूने कथन के अभिप्राय को यथाप्रकार समझा नहीं है। अंतरंग शुद्धि अर्थात् निश्चय व्यवहार चारित्र के साथ वचन-काय के परिणमन का भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता है। अकेले मनगत भावों के साथ नहीं। लेकिन अंतरंगशुद्धि का माप तो सहज उठने वाले मनगत शुभाशुभ विकल्पों से ही किया जा सकता है लेकिन मात्र वचन एवं शारीरिक क्रियाओं से साधक अपनी भूमिका का सत्यापन (माप) नहीं कर सकता। जैसे अव्रतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के आत्मा की अन्तरंग शुद्धि तो मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी के अभावात्मक, स्वरूप स्थिरता प्रगट होती है। उसके साथ ही मनगत भावों में नियम से सप्त व्यसनों के सेवन के अशुभभाव एवं मद्य, मांस, मधु सेवन के तथा चलते हुए त्रसों के घात वाले उदुम्बर फलों आदि के खाने जैसे अशुभभाव सहजरूप से ही उत्पन्न नहीं होते। तथा साथ ही देव-शास्त्र-गुरु पर अगाध श्रद्धा और भक्ति के शुभभाव एवं तत्त्वनिर्णय रूप अभ्यास में प्रवर्तने वाले शुभभाव भी सहजरूप से उठते रहते हैं। तदनुसार वचन भी ज्ञायक-अकर्ता स्वभाव के पोषक तथा पर के कर्तृत्व निषेधक और वीतरागता पोषक ही निकलते हैं। शारीरिक क्रियायें भी मनगत भावों के अनुसार सहज ही अशुभाचरण में नहीं प्रवर्तने एवं शुभभावों की पोषक क्रियाओं रूप वर्तने लगती हैं। ऐसा सहज स्वाभाविक वर्तने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता ही है।

इन मन-वचन-काय की मर्यादा उपरोक्त तक होने का तो नियम है, इसलिये ऐसा कभी नहीं हो सकता कि निश्चय चारित्र रूप शुद्धता तो वर्तती रहे और व्यवहार चारित्र के भाव एवं क्रियाएँ चरणानुयोग कथित उपरोक्त मर्यादाओं से विपरीत होती रहें। इसप्रकार से निश्चय और व्यवहार परिणमन की सहजरूप से प्रगाढ़ मैत्री वर्तती रहती है। इसीकारण व्यवहार चारित्र को निश्चय का सहचारी भी कहा गया है।

लेकिन अज्ञानी को अन्तरंग शुद्धि के अभाव में भी व्यवहार रूप भाव एवं काय-वचन की क्रियाएँ करते देखा जाता है; वह वास्तव में मोक्षमार्ग में वर्तनेवाले व्यवहार चारित्र की संज्ञा को प्राप्त नहीं होता वरन् वह मिथ्याचारित्र ही रहता है। उसमें वर्तते रहने वाले अज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि सहित हठपूर्वक अर्थात् प्रयासपूर्वक उपरोक्त क्रियाएँ पालने में बहुत सावधानी वर्तती है। और इस ही को मोक्षमार्ग मानकर, सच्चे मोक्षमार्गियों को मिथ्यात्वी मानते व कहते हैं। ऐसे जीव अपनी विपरीत मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते हुए, अपने भावों के अनुसार शुभभाव होने पर शुभगति एवं अशुभ भाव होने पर अशुभगति का बंध करते हुए संसार में ही भ्रमते रहते हैं।

उपरोक्त निश्चय-व्यवहार की स्थिति मात्र चतुर्थ गुण स्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि की ही बताई है। आगे के पंचम एवं षष्टम् गुणस्थानवर्ती आत्मा को भी इस ही प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ निश्चय-व्यवहार चारित्र सहजरूप से वर्तता रहता है। उसका विस्तार चरणानुयोग के ग्रंथों से जानना चाहिये। संक्षेप से जानने के लिये ''पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमा'' नाम की लेखक की पुस्तिका से जान लेना चाहिये। तथा छठवें-सातवे गुणस्थान में निरंतर झूलते रहने वाले साधु परमेष्टी के निश्चय चारित्र के साथ सहजरूप से वर्तनेवाले व्यवहार चारित्र की मैत्री किसप्रकार वर्तती है, उसका विस्तार श्री प्रवचनसार

की चरणानुयोग चूलिका आदि अन्य आचरण ग्रन्थों से जानना चाहिये। संक्षेप जानना हो तो लेखक की ''णमो लोए सव्वसाहूणं'' नाम की पुस्तिका से समझ लेना चाहिये। हमारे इस प्रकरण का विषय तो मात्र चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक की भूमिका प्राप्त कर उसका निर्वाह करने के उपायों के समझने तक ही सीमित है।

तात्पर्य यह है कि सहज ही अर्थात् बिना प्रयास के उठने वाले जो विकल्प (भाव) होते हैं, वे हमारी श्रद्धा के प्रतीक होते हैं। अर्थात् आत्मा के ज्ञायक एवं पर के प्रति अकर्तृत्वस्वभाव की श्रद्धावाले होते हैं। आत्मार्थी को सहज ही पर में अकर्तृत्व और स्व के ज्ञायकत्व के भाव (विकल्प) उठते रहते हैं। अत: ऐसे भाव निश्चय श्रद्धा होने का अनुमान कराते हैं। इसके विपरीत मिथ्यात्वी को बिना प्रयास के पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सम्बन्धी भाव (विकल्प) उठते रहते है। अत: इस प्रकार के भाव निश्चय श्रद्धा के अभाव अर्थात् मिथ्या श्रद्धा होने का अनुमान कराते हैं। इस प्रकार आत्मार्थी अपनी भूमिका को सहज उठने वाले विकल्पों से माप सकता है।

सावधानी रखने योग्य भूलों के प्रकार

सम्यक्त्व उत्पन्न होने के तीन प्रकार हैं – १. उपशम सम्यक्त्व २. क्षयोपशम सम्यक्त्व ३. क्षायिक सम्यक्त्व।

इन तीन प्रकारों में से वर्तमान पंचम काल में क्षायिक सम्यक्त्व तो उत्पन्न हो ही नहीं सकता। क्षयोपशम सम्यक्त्व को लेकर किसी जीव का पंचम काल में जन्म नहीं होगा, लेकिन उत्पन्न हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल में जो जीव इस क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं, वे सब मिथ्यात्व लेकर ही आते हैं; फिर यहाँ पर जो जीव सत्यार्थ विधि से पुरुषार्थ करता है। उसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

है। लेकिन उसको प्रथम बार तो उपशम सम्यग्दर्शन ही होगा। उनमें से अगर कोई बहुत ही उग्र पुरुषार्थी जीव तीव्र रुचि के साथ अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव में अपनत्व स्थापन करके ज्ञेयमात्र के प्रति उतनी ही उग्रता के साथ अपनत्व तोड़कर स्वरूप में एकाग्र होकर निर्विकल्प अनुभव में ऐसा संलग्न हो कि स्वरूपानुभव में उपशम के काल से भी अधिक कालतक प्रगाढ़ता बनाये रख सके तो क्षयोपशम भी प्राप्त कर सकेगा, लेकिन ऐसे जीवों की वर्तमान काल में दुर्लभता है।

इतना अवश्य है कि निर्विकल्प आत्मानुभव के समय अतीन्द्रिय आनंद की निर्मलता और स्पष्टता में तीनों प्रकार के सम्यक्त्व में कोई अन्तर नहीं होता। सबके अनुभव का विषय समान रहता है। तथा आत्मानुभव के द्वारा जो श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) उत्पन्न हुआ उसका विषय त्रिकालीज्ञायकभाव में अपनापन होना है; वह भी तीनों सम्यग्दृष्टियों को समान रहता है। इस प्रकार अनुभव के समय का वेदन एवं अपनेपन की श्रद्धा दोनों तो तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में समान होते हैं, इनमें अन्तर नहीं पड़ता। अन्तर है तो सम्यक् श्रद्धा के अस्तित्व की मर्यादा में है। जो सम्यक् श्रद्धा प्रगट हो चुकी है वह निर्विकल्पदशा समाप्त हो जाने पर भी सविकल्प में नष्ट नहीं होनी चाहिए। तीनों सम्यग्दृष्टियों को निर्विकल्प दशा में उत्पन्न होनेवाली अनुभूति समान होने पर भी, सविकल्पदशा हो जाने पर सम्यक् श्रद्धा के अस्तित्व रहने के काल में अन्तर रहता है। उपशम सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का काल ही मात्र अन्तर्मुहूर्त का है, उसके पश्चात् एकबार तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है अर्थात् श्रद्धा (मान्यता) विपरीत हो जाती है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के अस्तित्व का कालमुहूर्त से अधिक लम्बा होता है। (उसके काल की मर्यादा का प्रमाण करणानुयोग के ग्रन्थों से जानना) क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के विषय की निर्मलता में चल-मल-अगाढ़ता

रहते हुए भी, श्रद्धा के विषय में कोई अन्तर नहीं हो जाता अर्थात् अपनत्व तो त्रिकाली ज्ञायक में ही बना रहता है। लेकिन इसकी श्रद्धा का अस्तित्व अनवरत रूप से लम्बा बना रहता है। ज्ञायक सम्यग्दर्शन का काल तो सादि-अनन्तकाल है, वह तो प्रगट होने के बाद कभी भी नष्ट नहीं होता।

प्रश्न – उपशम सम्यक्त्व का काल इतना अल्प होने से उसके उत्पन्न होने का ज्ञान कैसे होगा ?

उत्तर – श्रद्धा का विषय तो होता है अपनापन। अत: अपने में अपनेपन के अभाव का ज्ञान तो पर में अपनापन उत्पन्न होते ही हो जाता है। लेकिन सम्यक्श्रद्धा का जन्म तो निर्विकल्प आत्मानुभूति के काल में ही होता है। उस समय जो अतीन्द्रिय आनन्द का अंश प्रगट होता है, उस आनन्द का अनुभव (वेदन) आत्मा को होता है, वह इस प्रकार का होता है कि कभी अनन्त काल में भी नहीं हुआ। अत: ऐसे अनुभव के होने पर आत्मार्थी को ज्ञायकत्रिकालीभाव में अपनापन एवं अतीन्द्रिय आनन्द एक साथ प्रगट होते है, अत: उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने का स्पष्ट रूप से ज्ञान आत्मार्थी को हो जाता है। लेकिन आनन्द के वेदन के साथ त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनेपन की सम्यक् श्रद्धा भी उपशम का काल समाप्त होते ही समाप्त होकर वापस मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि परमे अपनापन एवं रागादि भाव मिथ्यात्व दशा में जिस प्रकार के उत्पन्न होते थे वैसे ही उत्पन्न होने लगते हैं। विचक्षणबुद्धि आत्मार्थी तो उन भावों का प्रकार पहिचानकर, अपनी रुचि की उग्रता के साथ सावधान होकर, ज्ञायक स्वभाव में अपनत्व बनाये रखने के पुरुषार्थ को लगाकर, और सफल होने पर क्षयोपशम

सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। आत्मा को पुर्नस्थापन करने में सावधानीपूर्वक संलग्न रहता है।

लेकिन कोई अल्प संसारी उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने के साथ निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त हो जाने मात्र से, ऐसा मान लेता है कि अब मुझे सम्यग्दर्शन तो प्राप्त हो चुका; अब तो मुझे व्यवहारचारित्र को संभालना चाहिये। ऐसा मानकर, स्वस्वरूप में अपनत्व एवं ज्ञेयमात्र में परत्व (परपना) बनाये रखने की सावधानी छोड़ देता है। और निश्चय शुद्धि के साथ सहजरूप से वर्तनेवाले भावों की सहजता की उपेक्षा करते हुए, कर्तृत्वबुद्धि पूर्वक व्यवहार भावों एवं क्रियाओं को बनाये रखने में सावधान हो जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उपशम सम्यक्त्व का काल इतना अल्प होता है कि उसके पश्चात् निश्चित रूप से मिथ्यात्व तो होगा ही। अत: मुझे मिथ्यात्व दशा में होने वाले पर में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वामित्व आदि से होने वाले भावों से बचते हुए, स्वरूप की महिमा बढ़ाकर पुन: सम्यक्त्व को सुरक्षित करने की सावधानी करनी चाहिए। इसप्रकार सत्यार्थ मार्ग की उपेक्षा कर देता है, वास्तव में व्यवहार चारित्र सम्बन्धी भाव करने का कार्य नहीं है वे तो सहज होने वाले भाव हैं। उन भावों को बनाये रखने की सावधानी के भाव तो कर्तृत्व एवं स्वामित्व बुद्धि के प्रदर्शक है, ऐसा आत्मार्थी द्रव्यदृष्टि के अभावपूर्वक पर्यायदृष्टि हो जाने से, मार्ग भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ऐसा होने पर भी साधर्मियों से अपने को उत्कृष्ट मानता हुआ तथा दूसरे में अपनी महानता प्रदर्शित करने की चेष्टा में लग जाता है। पंचम गुणस्थान योग्य अन्तरंग शुद्धि नहीं होने पर भी व्यवहार क्रियाओं की दक्षता के द्वारा अपने को व्रती प्रतिमाधारी मान लेता है व दूसरों को भी प्रभावित करने की चेष्टा में लग जाता है।

कुछ जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले आत्मार्थी के समान सत्यार्थ निर्णय करके, सत्यार्थ प्रकार से सच्ची रुचि की उग्रता के साथ, अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ भी करते हैं; लेकिन निर्विकल्प अनुभव के पूर्व ही, कषाय की मंदता के उत्कृष्ट भावों के समय एक विशेष प्रकार की मनजन्य शान्ति अनुभव में आती है। वह शान्ति अतीन्द्रिय आनंद की शान्ति नहीं होती, लेकिन ऐसी शान्ति को ही निर्विकल्प आनंद मानकर अपने को सम्यग्दृष्टि मान बैठते हैं। वे जीव भी पर्याय की महिमा आने से, पर्यायदृष्टिपूर्वक मिथ्यादृष्टि होते हुए मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा का चित्रण, पूज्य श्री कानजीस्वामी ने 'अध्यात्म संदेश' नामक पुस्तक में, पं. टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी के ''सविकल्प से निर्विकल्प होने की रीति'' के स्पष्टीकरण में विस्तार से किया है। उसमें सविकल्प से निर्विकल्प होने तक की दशा १४ स्टेजों को पार करने पर प्राप्त होती है। ऐसा विवेचन किया है। जिसे आत्मार्थी को मूलत: अध्ययन करना चाहिये।

उक्त प्रकार के जीवों की स्थिति भी पूर्व कथित उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् होने वाले मिथ्यादृष्टियों जैसी ही हो जाती है। एक बार उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मार्गभ्रष्ट हो जाने वाले जीव के तो संसार का अन्त समीप आ गया, वह तो उत्कृष्ट से उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्तन काल में निश्चित रूप से यथार्थ मार्ग ग्रहणकर संसार का अन्त करेगा ही, लेकिन सम्यक्त्व तक पहुंचने के पूर्व की शान्ति को ही अतीन्द्रिय आनन्द मानकर जल्दबाजी करने वाला जीव मार्गभ्रष्ट हो जाने पर दीर्घ संसारी ही बना रहेगा। अमूल्य अवसर अर्थात् किनारे पर आकर पुन: भव समुद्र में चला जावेगा।

तात्पर्य यह है कि यथार्थ मार्ग प्राप्त करके भी तथा रुचिपूर्वक यथार्थ पुरुषार्थ करने पर भी उपरोक्त भूलों से बचे रहने के प्रति सावधान

रहना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि त्रिकालीसिद्धसदृशज्ञायकध्रुव भाव रूप ही अपना अस्तित्व मानकर उसमें अपनेपन के भाव में दृढ़ता रखते हुए, ज्ञेय मात्र के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा पूर्वक, अपनी परिणति को सब ओर से समेटकर तीव्र रुचि की उग्रतापूर्वक उपयोग को स्व में एकाग्र करने के पुरुषार्थ में ऐसा संलग्न हो जाना चाहिये, जिससे अन्य कोई आकर्षण उसके उपयोग को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके और अंतत: द्वैत का अभाव होकर निर्विकल्प आनंद का अनुभव प्राप्त करके ही परिणति विराम पावे; यही मनुष्य जीवन सफल करने का उपाय है।

वास्तव में तो सम्यग्दृष्टि को अन्य जीवों में प्रदर्शन का भाव ही नहीं होता। अपने को श्रद्धा में सिद्ध मानने वाला पूर्णदशा प्राप्त होने तक तो अपने को तुच्छ और पामर मानता है। अत: वह तो एकान्त प्राप्त कर, लौकिकजनों से दूर रहकर, स्व में स्थिरता बढ़ाने का अभ्यास करने की चेष्टा करता है। नियमसार परमागम की गाथा १५७ में तथा श्लोक २६८ में भी कहा है, श्लोकार्थ इसप्रकार है –

''इस लोक में कोई एक लौकिक जन पुण्य के कारण धन के समूह को पाकर, संग को छोड़कर गुप्त होकर रहता है। उसी की भांति ज्ञानी (पर के संग को छोड़कर गुप्तरूप से रहकर) ज्ञान की रक्षा करता है॥२६८॥''

यही भाव गाथा के अर्थ में प्रगट किया है –

''जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को पाकर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी परिजनों के समूह को छोड़कर ज्ञान निधि को भोगता है॥१५७॥

उपरोक्त सभी कथनों का तात्पर्य यह है कि जो ज्ञानी होने का

प्रदर्शन करता है। यह समझ लेना चाहिये कि वास्तव में उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ज्ञानी तो इसके विपरीत गुप्त रहकर साधनारत रहता है। प्रदर्शन के कार्यों से अपने आपको बचाता रहता है।

दूसरी अपेक्षा से भी विचार करें तो जिनधर्म में पूज्यपना महंतपना तो मात्र पंच परमेष्टियों को है। ज्ञानी श्रावक तो उनका आराधक होता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती का तो मोक्षमार्ग में निम्न से निम्न दर्जा है। चतुर्थकाल में तो बहुभाग श्रावक ऐसे ही होते थे, उनमें कोई प्रकार की महानता न तो ज्ञानी अपने आप में मानता था और न अन्य मानते थे। पंचम गुणस्थानवर्ती किसी भी प्रतिमा का धारी हो, उसको भी ज्ञानी 'नमोऽस्तु' शब्दपूर्वक नमस्कार नहीं करके मात्र 'इच्छाकार' बोलकर सन्मान करता है; इसका अर्थ होता है, ''मैं भी आपके समान होने की इच्छा करता हूँ।''

लेकिन वर्तमान पंचमकाल में तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावकों के समागम की अत्यन्त दुर्लभता हो जाने से, सच्चे ज्ञानी के मिलने पर भक्ति जाग्रत होना तो स्वाभाविक है, लेकिन वह भक्ति अपने में भी सम्यक् श्रद्धा प्रगट करने के लिये होती है। मोक्षमार्ग में तो गुणों की महिमा होती है, व्यक्ति की नहीं। ऐसी भक्ति अन्तरंग में होती है और आत्मार्थी उचित सम्मान के साथ उनका समागम करके सम्यक् प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग समझने की चेष्टा करता है। ज्ञानी ने वीतरागता का मार्ग अपनाया है और ऐसी वीतरागता अर्न्तलक्ष्यी पुरुषार्थ से होती है। अत: ज्ञानी के समागम द्वारा ऐसी ही भावना जाग्रत होना यही ज्ञानी की वास्तविक भक्ति है। भक्ति का बाह्य प्रदर्शन तो राग का पोषक होता है। अज्ञानी तो पहले ही राग में रचा-पचा रहता है, उसको ज्ञानी की भक्ति के प्रदर्शन को धर्म का अंग मानने का एक नया बहाना मिल जाता है तो वह तो उस राग में ही धर्म

मानकर सन्तोष कर लेता है। फलस्वरूप वास्तविक मार्ग से और भी दूर हो जाता है। ज्ञानी को भी यश का लोभ आ जाने पर उसको भी मार्ग भ्रष्ट कर देता है। इसप्रकार स्व-पर की हानि करता है।

उपरोक्त सभी कथनों को समझकर आत्मार्थी को बहुत सावधान रहते हुये, उपरोक्त सभी खतरों से बचते हुए अपनी रुचि के वेग को एकमात्र पूर्णता प्राप्त करने अर्थात् सिद्ध भगवान बनने की ओर केन्द्रित रखते हुए अन्य आकर्षणों से बचाये रखना चाहिये। निरंतर सावधानी रखनी चाहिये। और स्वयं का आत्मा ज्ञायक है, उस ही को शरणभूत मानते हुए रुचि का केन्द्र बिन्दु एकमात्र वही रहना चाहिये। यह समस्त कथन का सार है।

ज्ञानी को उपरोक्त निधि पाकर, अन्यजनों को समझाने अथवा अज्ञानी जनों को सन्मार्ग पर लगाने के बहाने, वचनों द्वारा प्रदर्शन करने के खतरे से भी बचना चाहिये। कारण अज्ञानीजनों की संख्या हमेशा अधिक रहती है, वे थोड़ी आत्मा की बात सुनकर प्रभावित हो जाते हैं और अपने पुरुषार्थ को आत्मलक्ष्यी करने के विपरीत, उपदेशक के प्रति उनकी भक्ति उमड़ती है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी यश के लोभ में फंसकर मार्गभ्रष्ट हो जाता है। नियमसार की गाथा १५६ तथा श्लोक २६७ में भी कहा है। भावार्थ एवं श्लोकार्थ निम्न प्रकार है –

''जगत में जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकार के हैं, इसलिये सर्व जीव समान विचार के हों – ऐसा होना असम्भव है। इसलिये परजीवों को समझा देने की आकुलता करने योग्य नहीं है। स्वात्मावलंबन रूप निजहित में प्रमाद न हो – इसप्रकार रहना ही कर्तव्य है॥२६७॥''

इसप्रकार उपरोक्त खतरे से भी सावधान रहते हुए, अपनी रुचि

को मार्ग से किञ्चित् भी चलित नहीं होने देना चाहिये, आत्मार्थी का यही कर्तव्य है।

त्रिकालीज्ञायक ध्रुवभाव की महिमा कैसे आवे ?

प्रश्न – मैं त्रिकाली ज्ञायक सिद्ध स्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ। ऐसा निर्णय करके मान लेने पर भी, उसमें आकर्षण तो उत्पन्न नहीं होता, और उसमें आकर्षण हुए बिना, परपदार्थों का आकर्षण छूटता नहीं। अत: इसका उपाय क्या हो ?

उत्तर – विकल्पात्मक ज्ञान में निर्णय कर लेने मात्र से ज्ञायक में वास्तविक आकर्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। वास्तविक आकर्षण तो, अपने ध्रुव के वास्तविक स्वरूप को समझकर एवं उसकी प्राप्ति से होनेवाली उपलब्धियों के स्वरूप को समझकर, श्रद्धा में बैठाकर तथा ''परज्ञेयों को जानना अथवा प्राप्त करना'' असंभव है – ऐसी श्रद्धा होकर, जब अपनी परिणति सब ओर से सिमटकर उपयोग को अपने ध्रुवभाव में एकाग्र होकर, निर्विकल्प अनुभव करे, तब ही वास्तविक आकर्षण उत्पन्न होगा। ऐसा आकर्षण सहज होता है, उसके लिये विकल्प करने का पुरुषार्थ कार्यकारी तो नहीं वरन् बाधक होता है। लेकिन इतना अवश्य है कि वस्तुस्वरूप समझकर, रुचि की उग्रतापूर्वक विकल्पात्मक ज्ञान में दृढ़तम निर्णय सहित, ध्रुव स्वभाव में अपनेपन का तीव्र आकर्षण उत्पन्न कर ज्ञेय मात्र के प्रति आकर्षण का आत्यन्तिक अभाव जाग्रत हुए बिना भी निर्विकल्प अनुभव नहीं होगा।

ध्रुवभाव की महिमा बढ़ाने वाले ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने के लाभ एवं इन्द्रिय ज्ञान एवं इन्द्रिय सुख

की वास्तविक हीनता के साथ उसका प्रेम संसार बढ़ाने वाला है। ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार में विस्तार से बताया गया है। इस संदर्भ में उसका अध्ययन एवं मनन करने योग्य है।

यह भी ध्यान रहे कि आत्मार्थी को विकल्पात्मक ज्ञान में निर्णय करने को प्रयत्न तो सरल लगता है, अत: उसमें संलग्न होकर, रुचि एवं परिणति की महिमा गौण रह जाती है। फलत: निर्विकल्पता नहीं आती, इसलिये निर्विकल्पता प्राप्त करने के लिये अन्तर में होनेवाली रुचि की उग्रता ही आवश्यक कारण है, मात्र निर्णय नहीं। यह भी ध्यान रहे कि कृत्रिमता पूर्वकं उत्पन्न की हुई रुचि भी फलप्रद नहीं होगी। इस प्रकार उपरोक्त सावधानी सहित वस्तुस्वरूप समझना आवश्यक है। पूर्व प्रकरणों में भी वस्तु स्वरूप की चर्चा की जा चुकी है ? फिर भी संक्षेप से इसप्रकार है।

विश्व के अनन्त पदार्थों में, मैं एक जीव नाम का पदार्थ/वस्तु हूँ। वस्तु का अपना निज का स्वभाव होता है, इसलिये मेरे जीव नामक पदार्थ का भी अपने स्वभावों सहित त्रैकालिक अस्तित्व है, उसका विवेचन समयसार की गाथा २ की टीका में आचार्य श्री ने किया है; वह इसप्रकार है –

आचार्य कहते है ''यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है।'' उक्त कथन से सिद्ध है कि आत्मा एक साथ हर समय जाननक्रिया सहित परिणमन करता है, ऐसा वस्तुगत स्वभाव है। यह वस्तुगत स्वभाव किसी गुण के द्वारा अथवा पर्याय द्वारा अथवा किसी अन्य कारण से नहीं है, यह तो वस्तुगत स्वभाव है। आत्मा में बसी हुई अनन्त सामर्थ्य-गुण-विशेषताएँ आदि सभी वस्तुगत स्वभाव का ही अंग बनकर, उसी के परिणमन की विशेषताएँ बनती हुई परिणमती रहती है। अत: ऐसा

जानते हुए परिणमन करता हुआ मैं जीव नामक पदार्थ हूँ; फलत: मेरी जानन क्रिया तो अनवरत रूप से होती ही रहेगी। रुक नहीं सकती। निगोद दशा में भी विद्यमान रही थी और सिद्ध दशा में भी यह वस्तुगत स्वभाव निरंतर वर्तता रहेगा।

ऐसे जीव के उपरोक्त परिणमन में जो विशेषताएँ रहती हैं। उसकी उनमें से मुख्य-मुख्य विशेषताएँ उक्त टीका में आगे बताई हैं :–

१. यह जीव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति लक्षण युक्त सत्ता सहित है।'' २. ''जीव चैतन्य रूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शन-ज्ञान ज्योति स्वरूप है।'' उक्त दोनों विशेषताओं द्वारा यह बताया गया है कि वस्तुगत स्वभाव, दर्शन-ज्ञान अर्थात् सामान्य स्वभाव एवं विशेष स्वभावों रूप जाननक्रिया सहित ध्रुवरूप रहकर, निरंतर उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्यायरूप अपना अस्तित्व बनाये रखते हुए परिणमता है।

३. ''यह जीव अनन्त धर्मों में रहनेवाला जो एक धर्मीपना है। उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है ऐसा है।'' इस विशेषता के द्वारा उक्त जीव पदार्थ अनन्त गुणों सहित अभेद एकरूप रहते हुए अनन्तगुणों की सामर्थ्य के साथ जानन क्रिया परिणमती रहती है।

४. ''वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव, जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण पर्यायों को अंगीकार किया है।'' इस विशेषता द्वारा यह बताया है कि अनन्त गुण अक्रमरूप अभेद रहते हुए एक साथ परिणमन करते हैं और वह परिणमन क्रमवर्ती होता है। तात्पर्य यह है कि अक्रमरूप गुण अभेद होकर भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अनादि अनन्त क्रमवर्ती रूप अर्थात् क्रमबद्ध परिणमते रहते हैं उनको भी जीव जानता हुआ परिणमता है। इस विशेषता द्वारा

आत्मा के गुणों की पर्यायों के परिणमन क्रमबद्ध परिणमते हैं। इससे क्रमबद्ध परिणमन का सिद्धान्त एवं जीव का अकर्तृत्व स्वभाव भी सिद्ध होने के साथ सिद्ध भगवान की सर्वज्ञता भी सिद्ध होती है।

५. ''वह जीव, अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्यवाला होने से जिसने समस्तरूप को प्रकाशन वाली एकरूपता प्राप्त की है। (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं के आकार प्रतिभासित होते हैं, ऐसे एक ज्ञान के आकार रूप है)'' इस विशेषण द्वारा यह बताया गया है कि जीव की स्वभाविक वस्तुगत जाननक्रिया, स्व एवं परद्रव्यों के प्रकाशन करने के स्वभाववाली है अर्थात् स्वद्रव्य संबंधी ज्ञेयाकार एवं परद्रव्यों संबंधी समस्त ज्ञेयाकार एकरूपता से (बिना कोई विभाजन के) ज्ञान में स्थित होकर परिणमते हैं अर्थात् सब ज्ञेयाकार स्वयं ज्ञान ही हैं। वास्तव में वे ज्ञेयाकार नहीं अपितु ज्ञानाकार ही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जीव को स्वद्रव्य को अथवा परद्रव्यों को अथवा उनके आकारों को जानने के लिये उनके सन्मुख नहीं होना पड़ता, वरन् ज्ञान स्वयं ही उनके आकार हो जाता है, ऐसा वस्तुगत स्वभाव है। इस प्रकार वह ज्ञान ही ज्ञाता है और ज्ञेय भी वह ज्ञान ही है। अत: वस्तुगत स्वभाव ही ऐसा है कि समस्त द्रव्य ज्ञानगत होते हैं व ज्ञान भी सर्वगत है। फलत: सर्वज्ञता तो वस्तुगत स्वभाव ही है। कर्तृत्वपना तो रहता ही नहीं वरन् जानने की आकांक्षा की संभावना भी समाप्त हो जाती है।

६. ''वह जीव, अन्य द्रव्यों के विशिष्ट गुण-अवगाहन-गति-स्थिति वर्तनाहेतुत्व और रुपित्व हैं, उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्य रूपता स्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इन पाँच द्रव्यों से भिन्न हैं''।

७. वह जीव, अनन्त अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एक-क्षेत्रावगाह रूप होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव रूप है।''

उक्त दोनों विशेषणों के भाव स्वयं स्पष्ट हैं, ये विशेषताऐं समस्त अन्य द्रव्यों का जीव में अत्यन्ताभाव को सिद्ध करती हैं। ये विशेषण तो परद्रव्यों से जीव को अत्यन्त भिन्न बताकर, जीव के ऐसे वस्तुगत स्वभाव को सिद्ध करते हैं कि जीव, पर का न तो कर्ता है, न भोक्ता और न स्वामी है, अत: उनमें एकत्व अथवा ममत्व करने का अवकाश ही नहीं रहता सहजरूप से जानते हुए परिणमन करते रहने का स्वभाव सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रथम की पाँच विशेषताएँ वस्तु के अपने स्वभावगत परिणमन की अनन्त अपार गंभीरता से भरे हुए वैभव को जानते हुए परिणमते रहने के स्वभाव को प्रदर्शित करती हैं। ऐसे परिणमन करते रहने से जीव में अशुद्धता रूप परिणमन होने की संभावना का ही अवकाश नहीं रहता। उपरोक्त कथन का सार यह है कि सिद्ध भगवान की आत्मा उपरोक्त विशेषणों सहित जानते हुए परिणमते रहते हैं। फलत: वे अनन्त सुख का उपभोग करते हैं।

उपरोक्त स्वभाव तो हर एक आत्मा के ध्रुव में निरन्तर वर्तता ही है। हमारा ध्रुव भी उपरोक्त सभी सामर्थ्यों सहित वर्तता रहता है। तात्पर्य यह है कि मेरे भण्डार में, सिद्ध भगवान की पर्याय में प्रगट हुए सभी स्वभाव अर्थात् सिद्धत्व मेरे ध्रुव में निरन्तर विद्यमान हैं; ऐसा जानने से हमको ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है कि मैं तो सिद्ध हूँ। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होते ही आत्मार्थी की अन्तरंग रुचि उछलने लगती है और उसको अपना अस्तित्व सिद्ध भगवान की जाति का लगने लगता है। अन्तरंग में उसके दीनता-हीनता के भाव गायब हो जाते हैं अर्थात्

उड़ जाते हैं और अपनी पर्याय में उन सामर्थ्यों को प्रगट करने की तीव्र रुचि जाग्रत हो जाती है। अब उसको अपनी पर्याय में वर्तने वाले अनेक प्रकार के भाव तथा शरीरादि सब ज्ञेय मात्र स्वतंत्र वर्तते हुए और पर के परिणमन विश्वास में आने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि परद्रव्य तो पर है ही, शरीर के परिणमन भी पुद्गल द्रव्य के परिणमन दिखने लगते हैं। साथ ही पर्यायगत् अनेक प्रकार के भाव भी परकृतभाव लगने लगते हैं। उनके प्रति एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विकल्प उठते हुए भी, वे सब परद्रव्य के परिणमन लगने लगते हैं। उनके प्रति कर्तृत्व आदि की बुद्धि नहीं रहती। सारांश यह है कि आत्मार्थी के विकल्पात्मक ज्ञान के निर्णय में, परद्रव्यों के परिणमनों के साथ एवं अपने पर्यायगत भावों का स्वामित्व एवं कर्तृत्व बुद्धि हटकर, ज्ञातृत्वबुद्धि प्रगट हो जाती है। उनके परिणमनों के प्रति द्वेष अथवा राग दृष्टि पूर्वक जानना नहीं होकर, सिद्ध भगवान के समान मध्यस्थ भावपूर्वक ज्ञातृत्वबुद्धि हो जाती है।

सिद्ध भगवान को पर का जानना किसप्रकार होता है ?

प्रश्न – ज्ञान का तो स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक है, तो सिद्ध भगवान को भी पर परिणमनों संबन्धी ज्ञान किसप्रकार होता है। जिससे उन्हें रागादि उत्पन्न नहीं होते ?

उत्तर – स्व-पर के ज्ञान सहित जानने रूप परिणमते रहना, यह तो वस्तुगत स्वभाव है, उसके बिना जीव का जीवत्व ही नहीं रह सकता। अत: स्व-पर के जानने रूप परिणमते रहना तो सिद्ध एवं संसारी सबको निरन्तर रहता ही है। ध्रुव के भण्डार में वह सामर्थ्य रहते हुए भी, उसका प्रकाशन (प्रगट होना) तो ध्रुव भण्डार नहीं कर

सकता पर्याय ही करती है। प्रगट हुए बिना उसका लाभ नहीं मिल सकता।

सिद्ध भगवान को भण्डार में भरी हुई सभी सामर्थ्य पर्याय में प्रगट हो जाती है। हमारी पर्याय में, वैसी प्रगटता नहीं होती। अज्ञानी को ऐसी श्रद्धा नहीं होती, फिर भी वह सिद्ध भगवान की ज्ञान पर्याय की प्रगटता को अपनी मान्यता से मापना चाहता है। भण्डार में भरी हुई सामर्थ्यों के ज्ञान के आधार से निर्णय नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान को प्रगट हुई ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता को समझने के लिये, अपनी मान्यता को छोड़कर, वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से अर्थात् द्रव्य की दृष्टि रखकर समझना चाहिये, तभी वह समझी जा सकेगी पर्याय की दृष्टि द्वारा समझना अशक्य है।

जीव नामक पदार्थ के वस्तुगत स्वभाव की पाँचवीं विशेषता द्वारा हमने यह समझा है कि स्वद्रव्य संबंधी समस्त ज्ञेयाकार एवं परद्रव्यों संबंधी समस्त ज्ञेयाकार, एकरूपतापूर्वक एक साथ ही ज्ञान में विद्यमान हैं अर्थात् वह ज्ञान ही समस्त ज्ञेयाकारों सहित ध्रुव में निरंतर रहता है।

त्रिकाली ध्रुव रहने वाले स्वभावों का, त्रिकाली ध्रुव परिणमन भी होता रहता है; वस्तु कूटस्थ नहीं रहती, लेकिन ऐसे परिणमन का अनुभव नहीं होता। अनुभव तो पर्यायगत परिणमन का होता है। ऐसे त्रिकाली ध्रुव के परिणमन को नियमसार में कारणशुद्धपर्याय के रूप में आचार्य श्री ने समझाया है। एवं पूज्य श्री कानजीस्वामी ने उसका विस्तारपूर्वक, स्पष्टीकरण किया है और उसका प्रकाशन भी उपलब्ध है। वह तो ध्रुव वस्तु का ध्रुव परिणमन रहने से मात्र द्रव्यदृष्टि का विषय एवं श्रद्धा का विषय है, अनुभव तो उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय में प्रगटता का ही होता है; और वह पर्यायार्थिक नय का विषय होकर अनुभव में आता है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुगत स्वभाव अपनी विशेषताओं सहित निरंतर ध्रुव में वर्तता ही रहता है कि वस्तु अपनी सामर्थ्य सहित कूटस्थ पड़ी न रहकर, निरंतर जाज्वल्यमान अनंतचटुष्टय की सामर्थ्यों सहित ध्रुव वर्तती रहती है। ऐसा कथन तो ध्रुव की महिमा (आकर्षण) उत्पन्न करने के लिए कहा गया है। पर्याय जब भी पर का आकर्षण नष्ट कर, एकमात्र ध्रुव जो समस्त सामर्थ्यों सहित लहलहाता हुआ विद्यमान है, उसकी ओर आकृष्ट एवं एकाग्र होकर अन्तर्मुहूर्त से अधिक ध्रुव का शरण लेकर लीन हो जावेगी। तब ध्रुव की समस्त सामर्थ्य, उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय में प्रगट होकर, आत्मा स्वयं वीतरागी सर्वज्ञ होकर अनन्त अतीन्द्रिय आनंद का उपभोक्ता बनकर अनंत काल तक सुखी बने रहते हुए सिद्ध परमात्मा बन जावेगा।

अनंत सामर्थ्यों सहित त्रिकाल वर्तते हुए अपने स्वभाव की श्रद्धा एवं उसी की शरण लेकर एकाग्र होने की ऐसी अचित्य महिमा है, ऐसा समझकर सिद्ध भगवान के ज्ञान के स्व-परप्रकाशक परिणमन को समझना चाहिये।

यह तो हमने समझा ही है कि पांचवें नम्बर की विशेषता के अनुसार जीव का ज्ञान ही स्वयं, स्व-पर के ज्ञेयाकारों सहित त्रिकाल वर्तता रहता है। लेकिन सिद्ध भगवान के आत्मा ने पूर्वदशा में वर्तने वाले मिथ्यात्व एवं चारित्रमोह संबंधी रागादि का, सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्यान्तिक अभाव कर दिया और परसंबंधी आकर्षणों का भी आत्यान्तिक अभाव कर दिया। अपनी परिणति को सब ओर से समेटकर, उपयोग को स्वभाव में ही एकाग्र कर, निर्विकल्पता सहित लीन हुए, उसी समय समस्त सामर्थ्यों की प्रगटता हो जाती है। और वह पर्याय भी अजर-अमर होकर अनन्त काल तक वैसा ही उत्पाद-व्यय करती रहती है। इस दशा के लिए सिद्ध भगवान के ज्ञान को कुछ

भी करना पड़ता नहीं। स्व-पर में एकत्व करनेवाला दर्शनमोह एवं स्थिरता में बाधक ऐसा चारित्रमोह दोनों नाश होकर, पर्याय पूर्ण शुद्ध होकर उत्पाद होने से, पर का आकर्षण ही नहीं रहा, फलत: स्व एवं पर सम्बन्धी समस्त ज्ञेयाकारों के ज्ञाता होते हुए भी, अपने आप में तन्मय होकर परिणमते रहते हैं। इसी दशा को भेदपूर्वक समझाना हो तो व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि स्व को तो तन्मयता पूर्वक जानते है एवं पर को तन्मयता रहित जानते हैं सिद्ध भगवान के ज्ञान की स्व-पर प्रकाशता इसी प्रकार सादि अनन्त काल तक अनवरत रूप से परिणमती रहती है।

संसारी के ज्ञान का पर की ओर आकृष्ट होने का कारण ?

प्रश्न – ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने पर भी तथा आत्मा के ज्ञान में भी स्व-पर दोनों एक साथ ज्ञेयाकार रूप में रहने पर भी, संसारी का ज्ञान मात्र पर की ओर ही आकर्षित होकर क्यों झुक जाता है ?

उत्तर – यह बात सत्य है कि आत्मा के ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि स्व के साथ पर को भी जाने। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के अनन्त गुणों में से अन्य किसी में भी यह सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान का स्वभाव भी मात्र जानने का ही है; लेकिन जिसको जाना हो उसको अपना मानना आदि का कार्य नहीं है। ज्ञान का पवित्र कार्य तो जैसा हो वैसा जानना मात्र ही है।

लेकिन ज्ञान के परिणमन के समय आत्मा के अन्यगुणों का भी परिणमन होता है। वस्तु तो अभेद है, उसका परिणमन भी अभेद एक ही होता है। अत: ज्ञान के परिणमन में अन्य गुणों के विपरीत परिणमनों

का मिश्रण हो जाने से वह परिणमन अकेले ज्ञान का ही नहीं रहता अर्थात् ज्ञान ही अन्य गुणों रूप दिखने लगता है। दूसरे गुणों के कार्यों को भी ज्ञान ही तो प्रकाशित करता है, फलतः जीव ही दूषित दिखने लगता है। जो जीव अनादि से अज्ञानी रहता हुआ चलता चला आ रहा है, उस जीव की पर को स्व मानने की एवं अपना सुख पर में है ऐसी विपरीत मान्यता भी अनादि से ही चलती आ रही है और उसके साथ वर्तने वाला ज्ञान भी विपरीत श्रद्धा के कारण पर को ही स्व के रूप में जानता आ रहा है। इसप्रकार की विपरीत मान्यता की चैन (श्रृंखला) अनादि से ऐसी ही चलती आ रही है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के जानने का स्वभाव दूषित होकर ही परिणमित होता है। इसमें दोष तो है श्रद्धा का, लेकिन ज्ञान के सिर मढ़ दिया जाता है। इसप्रकार ज्ञान का पर की ओर आकृष्ट होने का कारण, पर को अपना मानने की श्रद्धा ही है।

तात्पर्य यह है कि मिथ्या मान्यतारूपी चैन अज्ञानी की अगर एक बार भी टूट जावे और मान्यता यथार्थ हो जावे तो ज्ञान तो पवित्र है ही, वह भी स्व को स्व, पर को पर जानता हुआ ही उत्पन्न होने लगेगा। सारांश यह है कि श्रद्धा ने जिसको स्व (अपना) मान लिया तो आत्मा के अन्य गुण भी श्रद्धा के माने हुए स्व की ओर ही आकर्षित होते हुए कार्यशील हो जाते हैं। लेकिन जब अज्ञानी पर में अपनापन मान लेता है, तब मिथ्याज्ञान पर की ओर आकृष्ट होकर परिणमत होता रहता है।

सारांश ऐसा है कि सिद्ध भगवान के ज्ञान का भी स्व के साथ पर संबंधी ज्ञेयाकारों को जानते हुए भी, उनके साथ मात्र जानने रूप पवित्र संबंध रहता है। स्वपना (अपनापना) अपने मैं ही होने से एवं अपना आत्मा ही सुख का भण्डार है ऐसी श्रद्धा होने से आकर्षण तो

मात्र आत्मा का ही वर्तता है एवं अनंत गुण भी स्व में ही विश्राम पाते हैं, फलतः आत्मा स्व में तो तन्मय/लीन होते हुए जानता रहता है और पर का जानना सहज होता रहता है, लेकिन आकर्षण के अभाव में मात्र तन्मयता रहित जानना होता है।

अज्ञानी का जानना सिद्ध भगवान की जाननक्रिया के विपरीत, पर को ही स्व एवं सुख का भण्डार मानने की श्रद्धा के साथ, पर में ही आकृष्ट रहते हुए परिणमता रहता है।

अज्ञानी को न तो ज्ञान ही है और न श्रद्धा ही है कि मेरी जाननक्रिया अपने ज्ञान में बने परद्रव्यों के ज्ञेयाकारों को ही जानने तक मर्यादित है। ज्ञान परद्रव्यों को तथा उनके परिणमनों को जानने एवं सुख के लिये अपने प्रदेशों को छोड़कर पर तक कैसे पहुंचेगा ? कोई भी द्रव्य अपना क्षेत्र छोड़कर बाहर जाता ही नहीं तथा जा भी नहीं सकता। उनको अपना मानने से उनमें से सुख प्राप्त करने की मान्यता, किसप्रकार सफल हो सकेगी ? असम्भव है। फिर भी अज्ञानी को इसकी श्रद्धा एवं ज्ञान नहीं होता। इसलिये जबतक अज्ञानदशा रहेगी तब तक परद्रव्यों की ओर का आकर्षण छूट नहीं सकता और अपनी पर्याय में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी।

रागादि से अपनापन तोड़ना अथवा परद्रव्यों से तोड़ना ?

प्रश्न – जिनवाणी में तो रागादि भावों से अपनापन तोड़ने का भी विधान है; अतः प्रथम परद्रव्यों से अपनापन टूटता है या रागादि से ?

उत्तर – हे भव्य ! अध्यात्म में तो अपना प्रयोजन सिद्ध करने में जो बाधक हो, वे सब पर माने गये हैं। प्रदेश भिन्नता वालों को पर

मानना यह तो आगम अपेक्षा कथन है। मात्र उनको पर मान लेने से निर्विकल्पता नहीं होती। लेकिन प्रथम उनमें परत्व भाव उत्पन्न हुए बिना भी अध्यात्म के कथन कार्यकारी नहीं होते। इसलिये आत्मकल्याण का हेतु तो, स्व अर्थात् अपने त्रिकाली ध्रुववस्तु के अतिरिक्त सभी को पर मानकर, सब से स्वपने का आकर्षण छोड़ने योग्य है। ध्रुव की दृष्टि में तो अन्य कोई स्व है ही नहीं, उसमें ज्ञान एकाग्र होने पर तो विकल्प (राग) होने का अवकाश ही नहीं रहता। ध्रुव से स्खलित होते ही ज्ञान बर्हिलक्ष्यी हो जाता है और उसमें तो अनेकता ही अनेकता होने से रागी जीव को विकल्प (राग) उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये रागी जीव को ध्रुव में अपनापन मानने के लिये ही आचार्य ने बल दिया है। ध्रुव में अपनापन होना ही, ध्रुवदृष्टि–द्रव्यदृष्टि हैं। भगवान सिद्ध को तो स्व एवं पर सम्बन्धी अनन्तानन्त ज्ञेयों के ज्ञेयाकार एक साथ ज्ञान में वर्तते हैं, लेकिन उनको मोह रागादि का अभाव होने से राग का उत्पाद होता ही नहीं। इसलिये सिद्ध है कि मात्र अनेकता को जानना राग का कारण नहीं वरन् राग का सद्भाव है। तथा छद्मस्थ रागी का ज्ञान एक समय एक ओर ही एकाग्र हो पाता है। इसलिये रागी को उपदेश दिया जाता है, कि जिसके जानने में रागोत्पत्ति का अवकाश हो' वे सब पर मानने योग्य हैं। अत: उनसे आकर्षण तोड़कर एकमात्र ध्रुव को ही स्व मान, रुचि का केन्द्र बनाकर उसी में आकर्षण उत्पन्न कर और ज्ञान को एकाग्र योग्य है।

इसप्रकार आत्मा में बसे अनन्त गुण अभेद रूप से आत्मा में विद्यमान हैं उनका ज्ञान भी राग का उत्पादक नहीं होता, लेकिन उन्हीं गुणों को भेदपूर्वक समझने में राग उत्पन्न हो जाता है। इसलिये भेद का भी निषेध किया जाता है। ज्ञानी निर्विकल्प दशा होते ही अनन्तानुबन्धी के अभावात्मक अनन्त गुणों की पर्यायें आंशिक शुद्ध होकर, आत्मा

के साथ अभेद होकर निरन्तर वर्तती रहती हैं और ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव में उनका ज्ञान भी वर्तता रहता है तो भी विकल्प उत्पन्न होते हैं। लेकिन ज्ञानी जब पुन: निर्विकल्प अनुभव करता है तो उस समय उनके ज्ञान का विषय अभेद आत्मा रहता है, ज्ञान में से ध्रुव को निकालना नहीं पड़ता; ज्ञानी को अनन्त गुणों एवं आंशिक निर्मल हुई पर्यायों सहित अभेद-अखण्ड आत्मा ज्ञान का विषय बनता है। ज्ञानी के अस्थिरता होने से अबुद्धिपूर्वक राग उत्पन्न होता रहता है, विकल्प नहीं।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का स्व को जानना अथवा पर को जानना तथा एक को जानना अथवा अनेक को जानना राग उत्पन्न नहीं करता, वरन् रागी जीव को जितना और जैसा मोह रागादि भाव होता है उनके साथ जब ज्ञान वर्तता है तो मोह-रागादि के अनुसार राग आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये अज्ञानी को ज्ञानी बनाने हेतु आचार्यों का करुणा भरा उपदेश है कि समस्त विश्व भर से अपनेपन का सम्बन्ध तोड़कर, अकेले अपने ध्रुव स्वभाव की शरण ले; जिसकी शरण लेते ही संसारी भावों का अभाव होना प्रारम्भ हो जायेगा।

शिष्य का प्रश्न है कि पहले परद्रव्यों से अपनत्व तोड़ना अथवा रागादि भावों से ?

ध्रुव की दृष्टि की अपेक्षा तो, आत्मा के लिये दोनों ही पर हैं, इसलिये उपदेश तो एकमात्र ध्रुव में ही अपनापन करने का दिया जाता है। अत: अपनत्व तोड़ने के लिये तो मात्र परद्रव्य ही नहीं, वरन् परभाव (रागादि) तो हैं ही साथ ही गुण भेदों से भी अपनत्व तोड़ने का विधान है। ऐसा होते हुए भी अज्ञानी को ज्ञानी बनाने के लिये उपदेश में तो क्रम पड़ता ही है तथा क्रम करना भी पड़ता है। इस अपेक्षा से ही

असद्भूत-सद्भूत-उपचरित-अनुपचरित आदि अनेक भेद करके समझाया जाता है।

समझाने के क्रम में स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की सामान्य पद्धति है तथा जीवों के क्षयोपशम ज्ञान की प्रगटता की मुख्यता से भी क्रम पड़ता है। जैसे स्त्री-पुत्रादि एवं मकान धनादि, इस शरीर से भी भिन्न होते हुए आत्मा के बताना, बहुत स्थूल है व मात्र मनुष्यों में वर्तमान जीवन तक भी नहीं रहने वाला संबंध है। इसको असद्भूत उपचार कथन बताकर इनसे एकत्व छुड़ाया है।

इसीप्रकार शरीर से आत्मा का वर्तमान जीवन तक एक क्षेत्रावगाह रूप में रहने वाला सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध एकेन्द्रिय से मनुष्य तक के सब जीवों में है। अत: यह पूर्व की अपेक्षा कम स्थूल है। इसमें एकत्वबुद्धि को छुड़ाने के लिये ऐसे सम्बन्ध को असद्भूत उपचरित अथवा अनुपचारित सम्बन्ध कहकर छुड़ाया गया है। ऐसे सम्बन्ध को प्रवचनसार ग्रंथ में असमानजातीय द्रव्यपर्याय के नाम से सम्बोधित किया है। सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक में ऐसी एकत्वबुद्धि ही मुख्यता से पाई जाती है, उनको तो मोह-रागादि भावों का ज्ञान ही प्राय: नहीं होता। फिर भी ऐसा जीव असमानजातीय द्रव्यपर्याय से एकत्वबुद्धि तोड़कर, सीधा ध्रुव भाव में एकत्व कर ज्ञान को पर की ओर से समेटकर आत्मलक्ष्यी कर ध्रुव में एकाग्र कर, निर्विकल्पता प्राप्त कर लेता है। उसे बीच में पड़ने वाले मोह-रागादि भावों का एकत्व तोड़ना आवश्यक नहीं रहा। क्योंकि ज्ञान को परलक्ष्यीपने का अभाव होकर, स्वलक्ष्यी होना ही पर्याप्त है। परलक्ष्यी ज्ञान का विषय क्या था इसकी मुख्यता नहीं होती।

प्रवचनसार में भेदज्ञान कराने का आधार ही असमानजातीय द्रव्यपर्याय मुख्य है। ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार में ज्ञायक का स्वरूप

समझाकर, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन के द्वारा, ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप समझाने के अंतर्गत, अज्ञानी जिस असमानजातीय पर्याय को अपना मानकर उसमें एकत्व करता है, उसका विवेक कराया है। ज्ञानतत्त्व के ज्ञान में ज्ञेय तो पूरा द्रव्य होता है, अकेली पर्याय तो होती नहीं। अत: वास्तव में द्रव्य की दृष्टि से देखने पर, इस असमानजातीय पर्याय का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। शरीर तो पुद्गल की पर्याय है और आत्मा की व्यंजन पर्याय का स्वामी आत्मा है। अत: दोनों का यथार्थ स्वरूप बताकर, पराश्रय बुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि के द्वारा भेदज्ञान उत्पन्नकर, सीधा स्वरूप में एकाग्र होकर निर्विकल्प आत्मानुभव कराने का उपाय बताया है।

महावीर स्वामी की आत्मा ने सिंह की पर्याय में ऐसे ही भेदज्ञान पूर्वक आत्मानुभव कर, ज्ञानीपना प्राप्त किया था।

मनुष्य जाति में उत्पन्न हुए जीव को ज्ञान का क्षयोपशम अन्य जीवों से अधिक होता है। अत: वह अपने क्षयोपशम की प्रगटता का उपयोग आत्मलाभ करने के लिये अन्य जीवों की अपेक्षा विशेष कर सकता है। और मिथ्यात्व का जोर होने पर उसी ज्ञान का दुरुपयोग भी अनेक विपरीत युक्तियों एवं तर्कों द्वारा और भी दृढ़ता से पुष्ट कर सकता है। अत: उसके द्वारा गढे गये अनेक कुतर्कों का खण्डन करके ऐसे जीवों को सन्मार्ग पर लगाने के लिये विस्तार से कथन किया गया है। ऐसी मिथ्या मान्यताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में किया गया है।

इसप्रकार के विशेष क्षयोपशम वाले आत्मार्थी को पर्यायों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के शुभाशुभ भाव जो वास्तव में आत्मा का अहित करने वाले हैं। वे अपने आत्मा की ही पर्यायें हैं। ऐसे भाव तथा उनके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से रहने वाले द्रव्यकर्म, ये दोनों

तो इस मनुष्य पर्याय के छूटने पर भी आत्मा का साथ नहीं छोड़ते, इसलिये इनको जिनवाणी में सद्भूत अथवा असद्भूत उपचार नय के विषय बताकर उनसे एकत्व तोड़ने के कथन किये गये हैं।

समयसार ग्रन्थाधिराज में मुख्यता से इन उपायों का ही विस्तार से विवेचन है। आत्मा की किस-प्रकार की भूल से आत्मा में विकारी भावों की उत्पत्ति होती है, उन सबका विवेचन भी उसमें किया गया है। उनमें आत्मा की प्रबलतम भूल तो एक ही है कि अपने स्वरूप की अजानकारी पूर्वक जो अपने नहीं हैं और न कभी भी अपने हो सकते हैं, उनको अपना मानना – इसी का नाम मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्या मान्यता है। आत्मा के अहित करने वाले कारणों की मूल अर्थात् जड़ यह ही है। अत: ऐसी मान्यता को नाश करने का उपाय समयसार ग्रन्थाधिराज का मूल विषय है। इसी में गुण भेदों अथवा निर्मल पर्यायों के भेदों के कारण उत्पन्न होने वाले विकल्पों अर्थात् सद्भूत अनुपचार नय के विषयों का भी अभाव करने के उपायों का वर्णन है। आत्मार्थी को ग्रन्थराज के साथ उस पर हुवे आध्यात्मिक पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का भी पूर्ण मनोयोग द्वारा अध्ययन कर यथार्थ मार्ग ग्रहण करना चाहिये।

साथ में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि कोई अज्ञानी स्थूल मिथ्यात्व के विषयों का अभाव करे बिना ही सीधे उपरोक्त सद्भूत उपचार-अनुपचार नय के विषयों अर्थात् रागादि से एकत्व तोड़ने का प्रयास करेगा तो वह जीव तो अपने मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करेगा। कारण उसने अपने ध्रुव की दृष्टि करने का प्रयास तो छोड़ दिया। और ज्ञान को परलक्ष्यी रखकर, शरीर, आदि में एकत्व बुद्धि रखते हुए, अपनी कल्पना में आत्मा को शुद्ध मानकर अनेक विकल्प करते हुए तथा ध्यान मुद्रा लगाकर, आत्मा को प्राप्त करने का प्रयास करेगा, वह कैसे

सफल हो सकेगा। अत: समस्त मिथ्याकल्पनाओं को छोड़कर, त्रिकाली ज्ञायक रूप अपना अस्तित्व मानकर, ध्रुव के अतिरिक्त अन्य सभी आकर्षणों को समाप्त करते हुए, ध्रुव को ही शरणभूत मान उसी की दृष्टिपूर्वक, उस ही की शरण में जाना चाहिये। यह ही एक सारभूत है।

भण्डार में अशुद्धता नहीं होने पर भी पर्याय अशुद्ध क्यों ?

प्रश्न – विश्व के पाँचों द्रव्यों की पर्यायें उनके ध्रुव के समान ही उत्पन्न होती हैं, तो जीव की पर्यायें ध्रुव के जैसी ही उत्पन्न क्यों नहीं होती ?

उत्तर – आत्मद्रव्य की भी स्वभाविक स्थिति तो सब द्रव्यों के समान ही है, लेकिन अन्य द्रव्य तो अचेतन – अज्ञायक हैं और आत्मद्रव्य तो चेतन – ज्ञायक भी है, अत: वह स्व के साथ पर को भी जानता है। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा में श्रद्धा एवं चारित्र आदि गुण भी हैं, इन दोनों गुणों में ऐसी सामर्थ्य है कि ये विपरीत भी परिणमन कर सकते हैं। तथा आत्मा चेतन होने से निराकुलता रूपी सुख अथवा आकुलता रूपी दुख का वेदन भी कर सकता है और अपने विपरीत परिणमन का फल भी भोगता है। अन्य द्रव्य अचेतन होने से उनको यह सब नहीं होता।

उपरोक्त श्रद्धा एवं चारित्र आदि के स्वभाविक परिणमन के फलस्वरूप अनन्त सुख का वेदन (अनुभव) करने वाले सिद्ध भगवान हैं। उनकी पर्याय ध्रुव के समान ही निरन्तर परिणमती रहती है। ज्ञान का तो स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। श्रद्धा का स्वाभाविक परिणमन तो, स्व को ही स्व मानना है तथा चारित्र का भी स्वाभाविक परिणमन

स्व में ही रमणता अर्थात् लीन होने का है। फलतः साथ ही वर्तने वाला स्व-परप्रकाशक ज्ञान भी स्व को तो लीनता पूर्वक जानता है एवं पर को जानता तो अवश्य है, लेकिन लीनता बिना मात्र जानता ही है। जिसमें लीनता होती है, सर्व सम्पदाओं, सामर्थ्यों के भोग का लाभ भी उसी को मिलता है। फलतः अनन्त अनाकुल सुख का अनुभव भी उसी आत्मा को होता है।

तात्पर्य यह है कि अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द आदि का भोग सर्व सामर्थ्यों सहित सिद्ध भगवान को होता रहता है।

इसप्रकार जीव नामक पदार्थ का स्वभाव तो सिद्ध भगवान के समान ही है। अर्थात् सिद्ध भगवान का ध्रुव के समान पर्याय में भी सादि अनन्तकाल तक स्वभाव रूप परिणमन होता रहता है।

संसारी अज्ञानी जीव का परिणमन उपरोक्त प्रकार से बिल्कुल विपरीत होता है। शिष्य का प्रश्न भी है कि ऐसा क्यों होता है। अतः इसको समझने की चेष्टा करेंगे।

अज्ञानी का ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक लक्षण सहित वर्तता रहता है, वह तो वस्तुगत स्वभाव है; लेकिन उसी के साथ श्रद्धा एवं चारित्र गुण तो विपरीत वर्तते हैं। फल यह होता है कि अज्ञानी को परसंबंधी ज्ञेयाकारों का जो ज्ञान हुआ; अज्ञानी को स्व की तो पहिचान ही नहीं होती, फलतः श्रद्धा उन्हीं को स्व (अपना) मान लेती है। तब उसी समय का ज्ञान भी पर को ही स्व जानने लगता है एवं चारित्र भी उसी में रमणता करने का प्रयास करता है; लेकिन असफल होने से हर समय आकुलता का वेदन करता है। अज्ञानी की हर समय पर्याय के परिणमन की ऐसी ही स्थिति है। इसी का नाम भावसंसार है। ऐसे भावसंसार के फल में चतुर्गति भ्रमण होता है।

छद्मस्थ के ज्ञान का परिणमन लब्धि एवं उपयोगात्मक

ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी सभी छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के परिणमन की स्थिति ऐसी निर्बल होती है कि उनको प्राप्त क्षयोपशम के अनुसार स्व एवं पर विषयों का ज्ञान तो हर एक पर्याय में वर्तता है; लेकिन उनमें से मात्र एक ही विषय का तो उपयोगात्मक ज्ञान कर पाता है, बाकी समस्त विषय पर्याय में रहते हुए भी लब्धि में रह जाते हैं, उनका उपयोगात्मक ज्ञान नहीं हो पाता। उपयोगात्मक विषय का तो ज्ञान होते हुए अनुभव में भी आता है; बाकी लब्धिगत विषयों के ज्ञान का अनुभव होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसके साथ ही छद्मस्थ ज्ञान की और भी पराधीनता है कि परसंबंधी उपयोगात्मक ज्ञान भी किसी इन्द्रिय के द्वारा होता है अर्थात् उसका जानना भी इन्द्रिय के आधीनता पूर्वक प्रवर्तित होता है। ऐसी स्थिति छद्मस्थ ज्ञान की है।

अज्ञानी की श्रद्धा तो पर में अपनेपन की ही होती है। इस विपरीतता के कारण उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान, मात्र पर-प्रकाशक और परलक्ष्यी होता हुआ परिणमता रहता है। प्राप्त क्षयोपशम के अनुसार उसके परप्रकाशक ज्ञान के विषय तो अनेक होते हैं और इसकी श्रद्धा ऐसी होती है कि मुझे सुख तो इनमें से ही मिलेगा। फलतः जब वह अपने सुख के लिये उनकी ओर झपटता है तब ज्ञान मात्र एक ही इन्द्रिय के विषय को जान पाता है, बाकी विषय रह जाते हैं। ऐसी पराधीनता के कारण वह अत्यन्त दुःखी होता है, फलतः शीघ्र-शीघ्र विषय परिवर्तन करता है, फिर भी तृप्ति प्राप्त नहीं होने से एवं गृद्धता तीव्र होने से महादुःखी वर्तता हुआ संसार भ्रमण करता रहता है।

इन्द्रिय विषयों का हेयपना और अतीन्द्रियज्ञान की उपादेयता

समझने के लिये प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार का अध्ययन करना चाहिये। वर्तमान प्रकरण में तो हमारा विषय पर्याय में विकार कैसे होता है यह समझना है । यह कथन भी ऐसे अज्ञानी जीवों के लिये कल्याणकारी होगा, जो संसार से भयभीत होकर, अपने कल्याण के लिये समझना चाहते हैं।

अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति किसप्रकार ?

ऐसे अज्ञानी का ज्ञान तो परलक्ष्यी होकर ही परिणमता है; अत: उसका विषय तो कोई भी परज्ञेय होता है, ऐसे परज्ञेय को उपयोगात्मक जानते ही उसमें अपनापन होने से उसमें एकत्व करके अपना मान लेता है अर्थात् अपने को उस रूप ही मानने लगता है। वास्तव में तो वह अपनी ज्ञानपर्याय में बने ज्ञेयाकार को ही जानता है; लेकिन अज्ञानी को इसप्रकार की स्थिति का न तो ज्ञान ही है और न श्रद्धा ही। फलत: ज्ञेयाकार ज्ञान को भूलकर, पदार्थ की ओर ही झपटता है और उस रूप अपने को मानकर स्वयं नाचता रहता है। इसप्रकार परद्रव्य (परज्ञेय) का संयोग होते ही उसमें अच्छे-बुरे की कल्पना कर, राग-द्वेष उत्पन्न कर लेता है। इसी अपेक्षा समयसार में ऐसे भावों को संयोगीभाव कहा गया है। वास्तव में आत्मा में न तो किसी द्रव्य का संयोग होता है और न किसी पर्याय में किसी का भी संयोग होना संभव है; लेकिन मान्यता की विपरीतता के कारण अज्ञानी अपने को पररूप मानकर, मान्यता में संयोग कर लेता है। ऐसी मान्यता को ही संसार का बीज मिथ्यादर्शन मिथ्याश्रद्धा/मिथ्यात्व आदि नाम से कहा गया है। समयसार के कलश नं. १६४ का भी ऐसा ही आशय है। वह इसप्रकार है –

''कर्मबन्ध को करने का कारण न तो बहुकर्म योग्य पुद्गलों से

भरा हुआ लोक है, और न चलन स्वरूप कर्म (मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग) है, न अनेक प्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु 'उपयोग भू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य (एकत्व) को प्राप्त होता है, वही एकमात्र (रागादि के साथ एकत्व करना ही) वास्तव में पुरुषों (आत्मा) के बन्ध का कारण है।''

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि अज्ञानी अपने ज्ञान में बने ज्ञेयाकारों के ज्ञान को भूलकर, पर में अपनेपने की अनादि से चली आ रही मान्यता के कारण, परलक्ष्यी परिणमन में जो उपयोगात्मक ज्ञेय बने, उसी को स्व मानकर, उसी में एकता कर, उस रूप अपने को मानने लगता है। इससे विपरीत ज्ञानी को द्रव्यदृष्टि होने से, उसकी श्रद्धा में त्रिकाली ज्ञायक ही स्व के रूप में निरन्तर वर्तता है। फलस्वरूप मोह-रागादि भावों का ज्ञान होते ही बिना प्रयास के (बिना विकल्प) सहजरूप से ज्ञान के परिणमन ही दिखते हैं, मेरे में हुए ऐसा नहीं दिखता। फलत: संसार के कारणरूप मोह-रागादि भावों का आस्रव तथा बन्ध नहीं करता।

ज्ञान तो जीव की स्वाभाविक क्रिया है, और ज्ञान का तादात्म्य ज्ञायक के साथ होने से ज्ञानपर्याय होते ही मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ऐसी श्रद्धा को ज्ञानी दृढ़ करता रहता है। ज्ञानक्रिया का स्वभाव ही ऐसा है कि स्व एवं परसंबंधी ज्ञेयाकारों में से जिस ओर का आकर्षण (अपनापन अथवा आसक्ति) होता है, ज्ञान उस ओर ही झुकता हुआ उत्पन्न होता है। फलत: उनके निमित्त अर्थात् पदार्थ ज्ञानोपयोग के विषय बन जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी का तो अपनापन अपने ध्रुव ज्ञायक में ही है, अत: उसके ज्ञान को तो स्व की ओर झुकते हुए ही उत्पन्न होना चाहिये; लेकिन चारित्र की निर्बलता इसमें बाधक हो जाती है। फिर भी ज्ञानी श्रद्धा बनी रहने से, स्वरूप स्थिरता बढ़ाता हुआ क्रमश: पूर्णता प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी इससे विपरीत पर पदार्थों में अपनत्व होने से, उनमें ही चिपटकर रहना चाहता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का सार यही है कि अज्ञानी को अनादि से चली आ रही विपरीत श्रद्धा ही वास्तविक स्वभाव अथवा परिणमन को समझने में मूल बाधक कारण है। इसलिये पर में अपनेपन की मान्यता का अभाव करना ही मूल कर्तव्य है।

उपरोक्त कथन से ऐसा लगता है कि अलग-अलग गुणों की अपेक्षा, विकार उत्पत्ति में समयभेद होता होगा; लेकिन ऐसा नहीं है। परिणमन तो अभेद द्रव्य का अभेद होता है अर्थात् सभी गुणों का कार्य एकसमय के एक ही परिणमन में होता है, समयभेद नहीं होता। लेकिन समझाने में तो क्रम करके ही समझाना पड़ता है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानी को ज्ञायक में अपनापन होने से, राग के ज्ञान से भी रागादि उत्पन्न नहीं होते। इसी को दृढ़ करते हुए समयसार की गाथा ३६९ की टीका के अन्त में आचार्यश्री ने स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है। वह इस प्रकार है –

''प्रश्न – यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण होता है ?

उत्तर – किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न – तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) क्या है ?

उत्तर – राग-द्वेष-मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं, (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है।) इसलिये वे राग-द्वेष-मोह विषयों में नहीं हैं; क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टि में भी नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के अज्ञान का अभाव है। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के भी न होने से वे हैं ही नहीं।''

इसप्रकार सम्यक्त्वी को द्रव्यदृष्टि के सद्भाव में, रागादि का संयोग ही नहीं होता; फलत: रागादि भी उत्पन्न नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि आचार्य श्री का अभिप्राय पर्यायदृष्टि (पर में एकत्व करने की दृष्टि) छुड़ाकर, द्रव्यदृष्टि कराने का है – ऐसा समझना चाहिये।

इसी का समर्थन गाथा ३४४ की टीका के अंतिम पैराग्राफ में भी किया है। वह इसप्रकार है – ''इसलिये, ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव में अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए वे मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता है। (ज्ञान का अज्ञानरूप परिणमन करता है)''

समयसार गाथा २ की टीका द्वारा भी यह बताया गया है कि जीव (आत्मा) तो जानता हुआ ही परिणमता रहता है और ऐसा तो वस्तुगत स्वभाव है, वह न तो कभी रुक सकता है और न विपरीत परिणम सकता है। और जानने की क्रिया इसप्रकार होती है कि स्वसंबंधी एवं परसंबंधी ज्ञेयाकारों रूप ज्ञानपर्याय स्वयं ही प्रवर्तती है। इसप्रकार आत्मा अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता है, अन्य प्रकार से जानना हो ही नहीं सक़ता। क्योंकि आत्मा अपनी पर्याय द्वारा ही तो जानेगा और जानना भी स्वक्षेत्र के बाहर जाकर होता नहीं। तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र के जानने की प्रक्रिया तो इस ही प्रकार वर्तती है; लेकिन अज्ञानी आत्मा अपनी विपरीत मान्यता के कारण ज्ञानपर्याय के उत्पन्न होते ही, स्व के अज्ञान के साथ पर की ओर झुक जाता है और पर से एकत्व कर लेता है। बस एकमात्र यही मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति का बीज है। इसी के फलस्वरूप अज्ञानी को अनेक प्रकार के भाव अर्थात् भावसंसार खड़ा हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि उपरोक्त प्रकार के समस्त विकारी भावों की उत्पत्ति के मूल कारण का अभाव किये बिना, जो कुछ भी अर्थात् कषाय की मंदतारूप व्यवहार चारित्र के भाव एवं तत्संबंधी क्रियाएँ की जावे, तो भी उनसे संसार का अभाव नहीं हो सकेगा; हाँ ! इतना अवश्य है कि कषाय मंदता के भाव करेगा तो, एक-दो देवादि के भव प्राप्त करने के पश्चात् क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ निगाद को प्राप्त करेगा और अशुभभाव करेगा तो सीधा नरकादि गति में होता हुआ अंततः निगोद को प्राप्त करेगा, वहाँ से तो पुनः त्रस राशि प्राप्त होना असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। इसलिये शीघ्रता के लोभ में अथवा सरल लगने के कारण सरलमार्ग के लोभ में अथवा विपरीत मार्ग बतानेवाले प्रखर वक्ता के उपदेशों से प्रभावित होकर, विपरीत श्रद्धा पोषक मार्ग ग्रहण नहीं हो जावे इसकी सावधानी रखना चाहिये। अथवा किञ्चित् कषाय की मंदता से प्राप्त शांति लगने से, उसी को सत्यार्थ मार्ग मानकर, मार्गभ्रष्ट नहीं हो जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि सच्चा मार्ग तो वीतरागता अर्थात् जहाँ रागादि का अंश मात्र भी न रहे, वही सत्यार्थ मार्ग है – ऐसी श्रद्धा दृढ़ रहनी चाहिये। और वीतरागता तो आत्म-स्वभाव में स्थिर होने से ही हो सकेगी। यह तो प्रत्यक्ष दिखता हुआ सत्य है। वीतरागता का प्रारम्भ स्वलक्ष्यी ज्ञान होकर स्वरूप में एकाग्र हुए बिना नहीं हो सकता; और ज्ञान का स्व की ओर आकर्षित होना, स्व में अपनेपन की श्रद्धा जाग्रत हुए बिना नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कोई कुछ भी कहे/समझावे, कुतर्कों द्वारा सिद्ध भी करदे, तो भी ऐसी दृढ़श्रद्धा होना चाहिये कि "एक होय त्रण काल में, परमारथ नो पंथ" अर्थात् मार्ग तो अन्य है ही नहीं, ऐसी दृढ़तम श्रद्धा जाग्रत होकर, रुचि का केन्द्र एक मात्र ध्रुव ज्ञायक में अपनापन ही रहना चाहिए।

द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध नहीं माना जावे तो ?

प्रश्न – भावकर्म तो जीवकृत भाव है। जीव ही उनका कर्ता है। जीव चेतनद्रव्य है और अपने भाव करने के लिए स्वतन्त्र है। पर्याय की योग्तानुसार भावकर्मों का उत्पाद होता है, कर्म के उदयानुसार नहीं। तब फिर उनका निमित्तपना अनिवार्य क्यों ?

उत्तर – अनिवार्यता हमारे बनाने से नहीं बनती। यह तो किसी के द्वारा बिना बनाई गई विश्व की सामान्य व्यवस्था है। विश्व में छह द्रव्य हैं, सभी द्रव्यों के प्रतिसमय स्वतन्त्र परिणमन होते हैं विश्व की ऐसी ही व्यवस्था है कि उनके स्वयंकृत परिणमनों में एक-दूसरे में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये बिना ही सभी परिणमन करते रहते हैं; फिर भी, एक-दूसरे का परिणमन, किसी भी द्रव्य के परिणमन के अनुकूल सहजरूप से पड़ जाता है। जिसके अनुकूल पड़ गया हो, ऐसे होने वाले परिणमन को उस द्रव्य का निमित्त कह दिया जाता है। ऐसी ही विश्व की व्यवस्था है। उनमें पांच तो अचेतन द्रव्य हैं। अतः वे दूसरे के अनुकूल परिणमन करें, ऐसा वे जानते ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनाने से नहीं बनता यह तो सहजरूप से बनने वाली विश्वव्यवस्था है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी छहों द्रव्यों के आपस में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अध्याय ५ के सूत्र १७ से सूत्र २२ तक बताये गये हैं। वहाँ उपकार शब्द सभी सूत्रों में निमित्त के अर्थ में आया है। अतः मात्र भला करने के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। मूल ग्रन्थ का अध्ययन कर विस्तार से समझना चाहिए। यहाँ तो हमारा विषय निमित्त की अनिवार्यता को स्पष्ट करना है।

विश्व की एवं वस्तुगत व्यवस्था ऐसी भी है कि हर एक वस्तु

का जो कोई भी कार्य (पर्याय) सम्पन्न होता है, उसमें पाँच प्रकार की स्थितियाँ बनती ही बनती हैं, जिनको पाँच समवाय के रूप से जिनवाणी में बताया गया है। उनमें चार समवाय तो वस्तु के स्वयं के ही परिणमन होते हैं, लेकिन एक निमित्त नाम का समवाय उस समय का अन्य द्रव्य का परिणमन होता है। यह ही सहज बनने वाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। इसप्रकार की अनिवार्यता सहजरूप से बनती ही बनती है, फिर भी कार्य संपन्न करते हुए द्रव्य के कार्य में निमित्त नाम के समवाय का कोई भी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता – ऐसी वस्तुस्थिति है, कार्य संपन्न होने की वस्तुगत व्यवस्था है।

उक्त वस्तुगत व्यवस्था को श्रद्धा में रखकर जीव के भावकर्मों के साथ द्रव्यकर्मों के उदय की अनिवार्यता को समझने से इस विषय का समाधान सहज रूप से हो जावेगा।

भावकर्म तो सचेतन जीव की पर्याय है और द्रव्यकर्म का उदय अचेतन पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। एक समयवर्ती दोनों के एक सरीखे परिणमन को ही परस्पर होने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है। उसमें जीव के भावकर्म को नैमित्तिक कहा जाता है और द्रव्यकर्म के उदयकाल के अनुभाग (उदय) को निमित्त कहा जाता है। एक-दूसरे में हस्तक्षेप किये बिना की इस स्थिति को अनिवार्य समझना चाहिये।

उपरोक्त स्थिति समझने के पहले जीव में उत्पन्न होनेवाली पर्याय की स्वभाविक स्थिति समझनी चाहिये। आत्मा एक द्रव्य है, वह अनंत गुणों का अभेद एक पिंड है, उस अभेद द्रव्य के परिणमन को ही पर्याय कहते हैं। उस द्रव्य की स्थिति एक तो त्रिकाल ध्रुव रहने रूप स्थिति है तथा दूसरी एक समयवर्ती परिणमन, जो हर समय उत्पन्न होती है और दूसरे समय उसका अस्तित्व नहीं रहता ऐसी पर्याय है।

विकार का प्रगटीकरण तो वर्तमान की पर्याय में हुआ है। उस विकार का अस्तित्व न तो ध्रुव रूपी खजाने में था और न पूर्व की पर्याय में था; क्योंकि पूर्व पर्याय का तो व्यय होकर ही वर्तमान पर्याय हुई है और आनेवाले समय में तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहता अर्थात् दूसरे समय में तो सहजरूप से ही अस्तित्व नहीं रहेगा।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान के एक समयवर्ती पर्याय में ही विकार रहता है अर्थात् इस भावकर्म रूपी विकार की स्थिति मात्र एक समय की है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के भावसंसार की स्थिति एक समय मात्र की ही है।

पांच समवाय और विकार

वर्तमान उत्पन्न होनेवाली पर्याय में ही पाँच समवाय मिलकर विकार उत्पन्न होता है। इसमें चार समवाय तो स्वयं जीव की ही पर्याय में हैं मात्र एक निमित्त ही परद्रव्य की पर्याय है। उनमें से चार समवायों का कर्ता तो अकेला आत्मा है। चेतन में ही विकारी पर्याय उत्पन्न हुई है, अचेतन में नहीं। इस ही का नाम स्वभाव नाम का समवाय है। दूसरा काल है – अर्थात पर्याय में विकार होने का यही काल था। तीसरा भवितव्यता है – अर्थात् इस विकार के उत्पन्न होने में पाँचों समवाय मिलेंगे और यह विकाररूपी कार्य उत्पन्न होगा। इसको क्रमबद्धपर्याय भी कहा जाता है। चौथा समवाय पुरुषार्थ है – आत्मा के वीर्य का उत्थान अर्थात् अर्न्तप्रयत्न विकार करने का होना। इसप्रकार ये चारों तो आत्मा के अंदर होने वाले कार्य हैं।

अब पाँचवें निमित्त नाम के समवाय की अनिवार्यता समझनी है। जब आत्मा में विकार होगा तो ज्ञान परलक्ष्यी ही कार्यशील होगा, ऐसे परलक्ष्य का विषय जो भी हो वही निमित्त नाम का समवाय है।

निमित्त और नैमित्तिक संबंध पर्याय का पर्याय से ही होता है और दोनों में परस्पर अनुकूल और अनुरूपपना होना भी अनिवार्य है अर्थात् जो कार्य सम्पन्न हो रहा होता है, निमित्त भी उसके अनुकूल ही होता है अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक की समरूपता होती है और निमित्त के अनुरूप ही नैमित्तिक कार्य होता है। जैसे आत्मा में उत्पन्न हुए विकारी भावों के अनुकूल ही द्रव्यकर्म के अनुभाग का उदय होता है। न विकार से अधिक होता है और न कम ही होता है। कर्म उदय को आत्मा के विकार का निमित्त कहा जाता है और आत्मा के विकार को नैमित्तिक कहा जाता है। उसी समय आत्मा के विकार का निमित्त पाकर नवीन कर्म का एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध होता है। ऐसा बन्ध होना नैमित्तिक कार्य है और आत्मा का विकार निमित्त कहलाता है। इन दोनों में भी एक रूपता होती है।

वास्तविक स्थिति यह है कि आत्मा में विकार होने रूपी कार्य तो एक ही होता है, लेकिन उसके कर्ता दो कहे जाते हैं। एक तो वह द्रव्य जिसमें विकार (कार्य) हुआ है, वह तो वास्तविक कर्ता है, जिसको जिनवाणी में उपादान कर्ता कहा गया है। दूसरा कर्ता अन्य द्रव्य कहा जाता है, जिसका विकार उत्पन्न होने में कोई भी योगदान नहीं होता, फिर भी उसको निमित्तकर्ता कहा जाता है; क्योंकि विकार के समय, उस आत्मा ने निमित्त कहलाने वाले द्रव्य को ज्ञान का विषय बनाकर उसमें एकत्व किया है। उपादान और निमित्त के भी दो-दो भेद होते हैं। त्रिकाली एवं क्षणिक, द्रव्य को तो त्रिकाली एवं तत्समयवर्ती पर्याय को क्षणिक उपादान कहा जाता है। जैसे एक जीव द्रव्य में ही विकारी होने की त्रिकालवर्ती योग्यता है, अन्य पाँचों द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार मात्र पुद्गल द्रव्य में ही कर्मरूप होने की योग्यता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं। ये त्रिकाली उपादान-निमित्त का स्वरूप है। इसीप्रकार जीवद्रव्य

की पर्याय जो विकारी हुई है, उस समयवर्ती उस पर्याय की योग्यता को क्षणिक उपादान कहा गया है, इसी को उपादान कारण भी कहा जाता है। पुद्गल द्रव्य की जिन कर्मवर्गणाओं का उदय काल समाप्त हो गया है। मात्र उन वर्गणाओं की तत्समयवर्ती पर्याय की योग्यता को विकार होने का क्षणिक निमित्त कहा जाता है, इसी को निमित्त कारण कहा जाता है।

कारण कार्य सम्बन्ध मात्र पर्याय का पर्याय में होता है। इसलिये त्रिकाली उपादान एवं त्रिकाली निमित्त को कारणपना नहीं होता। जिस समय पांच समवाय युक्त कार्य संपन्न होता है अर्थात् विकार उत्पन्न हुआ है; उस समय विकार रूपी कार्य तो एक ही हुआ है; लेकिन उसके कर्ता दो कहे जाते हैं। एक तो चार समवाय युक्त आत्मा की पर्याय, वह तो उपादान कारण है। और उसी समय पूर्वबंधी कर्म वर्गणाओं में से जिनका उदय काल आ गया है और आत्मा के तत्समयवर्ती विकार के अनुकूल हो, मात्र उन्हीं वर्गणाओं की पर्याय, तत्समय होने वाले विकार का निमित्त कारण बनती है; यह ही पांच समवायों में निमित्त नाम का समवाय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हर एक द्रव्य की हर एक पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय के साथ, सहजरूप से बनता ही रहता है। समझने वाले को उपादान कारण को वास्तविक कर्ता स्वीकार कर उसकी शुद्धि करने का अभिप्राय निकालना चाहिये। क्योंकि वास्तविक (निश्चय) कर्ता वही तो है। निमित्त को कर्ता कहना तो मात्र उपचरित कथन है, उससे भ्रमित होकर अपने विकार का दोषी निमित्त को नहीं मान लेना चाहिये।

प्रश्न – लेकिन कार्य का परिचय तो निमित्त द्वारा ही कराया जाता है और जिनवाणी में भी विकार को नैमित्तिक कहकर ही समझाया गया है ?

उत्तर – आत्मार्थी का कर्तव्य है कि अपने उद्देश्य को मुख्य रखकर हर एक कथन का अभिप्राय निकाले।

पांच समवाय युक्त सम्पन्न कार्य का ज्ञान कराने की जिनवाणी में दो पद्धतियाँ बताई गई हैं। जहाँ उपादान कारण की प्रधानता से कार्य की सम्पन्नता बताना हो, वहाँ उपादेय शब्द का प्रयोग किया जाता है। जहाँ निमित्त कारण की मुख्यता से कार्य का ज्ञान कराना हो वहाँ उसी कार्य (जिसको उपादेय कहा गया था) को नैमित्तिक कहकर परिचय कराया जाता है। (यहाँ नैमित्तिक शब्द से ऐसा अर्थ नहीं निकालना कि कार्य की सम्पन्नता में निमित्त का योगदान है)। अज्ञानी को उपादान कारणों का ज्ञान श्रद्धान नहीं होने से एवं निमित्त परिचित होने से उसको निमित्त की मुख्यता लेकर आत्मा के विकार का कर्ता आत्मा है ऐसा समझाना है, ज्ञानी को नहीं । करणानुयोग के ग्रंथों में बहुभाग कथन निमित्त की मुख्यता लेकर आत्मा की पर्यायों का ज्ञान कराया गया है; क्योंकि आत्मा के समयवर्ती भावों का उपादान की मुख्यता से ज्ञान कराना संभव नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि आत्मा को विकार का कर्ता मानने से ही इसका अभाव करके वीतरागता उत्पन्न करने का पुरुषार्थ एवं उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। निमित्त को विकार का कर्ता मानने से तो स्वच्छन्दता उत्पन्न होगी।

जिनवाणी में तो जब आत्मा के कार्य का वास्तविक कर्ता बताना हो तो, उस कार्य का कर्ता उपादान कारण होने से, उसके कार्य को उपादेय नाम से कहा है (यहाँ उपादेय का अर्थ ग्रहण करने योग्य नहीं समझ लेना)

जब आत्मा में विकार होता है तो आत्मा के साथ नवीन

द्रव्यकर्मों का एक क्षेत्रावगाहसंबंध रूप बन्ध होता है। ऐसे बन्ध रूप कार्य की उपादान कर्ता तो पुद्गल वर्गणाए हैं उसमें आत्मा का विकार रूपी कार्य पर हुआ, वह कर्मबन्ध में निमित्त है और कर्मबन्ध को नैमित्तिक कार्य कहा जाता है। द्रव्यकर्म के बन्धरूपी कार्य में भी आत्मा के विकार की समरूपता होती है। इसप्रकार दोनों की एक कालप्रत्यासति होने से निमित्त की जाति एवं उग्रता-मंदता के अनुसार ही बंध भी होता है। इसलिये बंध का भी ज्ञान निमित्त के द्वारा ही हो पाता है। इस अपेक्षा कर्मबन्ध को नैमित्तिक कहा जाता है।

इसप्रकार भावकर्मों के साथ द्रव्यकर्मों के उदय की अनिवार्यता एवं आत्मा के साथ द्रव्यकर्मों के बन्ध होने की अनिवार्यता भली प्रकार सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न – द्रव्यकर्म के उदय के अनुसार भावकर्मों का होना तथा भावकर्मों के अनुसार द्रव्यकर्मों का बन्धन हो जाता है; तब फिर यह कड़ी टूटेगी कैसे ? अर्थात् आत्मा की मुक्ति कैसे होगी ?

उत्तर – ऐसा मानना अत्यन्त भूल भरा है। अज्ञानी इस तथ्य को भूल जाता है कि एक आत्मा तो चेतनद्रव्य है और दूसरा द्रव्यकर्म अचेतन द्रव्य है आत्मा तो ज्ञानस्वभावी होने से हेय-उपादेय को समझकर, हेय अर्थात् भावकर्मों को उत्पन्न नहीं होने देकर परम उपादेय ऐसी सिद्धदशा को प्राप्त कर सकता है और द्रव्यकर्म तो अचेतन द्रव्य है, वे तो अपने को जानते भी नहीं हैं, जिससे कि आत्मा को रागादि करा दे और न यह ही जानते हैं कि आत्मा ने भावकर्म किये। इसलिये मुझे इस को बांध लेना चाहिये। यह तो वस्तु की एवं विश्व की, सहज स्वाभाविक अकृत व्यवस्था है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं में ही

ऐसी योग्यता होती है कि वे आत्मा के विकार रूपी कार्य के समय, स्वयं की योग्यता से कर्मरूप परिणमित होती हैं और आत्मा भी स्वयं की योग्यता से विकार रूप परिणमित होता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का यह सार है कि आत्मा अज्ञान दशा में हर समय नया-नया भावसंसार उत्पन्न करता है। वर्तमान पर्याय में ही अज्ञानी पर में अपनापना मानता है और ज्ञान भी परलक्ष्यी होने से उसी को स्व जानने लगता है, चारित्र उसी में लीन होने की चेष्टा करता है। सफल नहीं होने से राग-द्वेष कर लेता है। तत्समय ही पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों का उदय काल आता है, उस समय जितनी तीव्रता अथवा मंदता रूप भाव आत्मा करता होता है, मात्र उतने तीव्रमंद अनुभाग के उदय को तो निमित्त कहा जाता है, उससे अधिक अनुभाग की स्थितिपूर्ण हो जाने से वो बिना फल दिये निर्जरित हो जाते हैं। इसी समय आत्मा के भावों को निमित्त करके, विस्रोपचय वर्गणाएँ अपनी योग्यता से कर्म वर्गणा रूप परिणत होकर आत्मा के साथ पुन: बंधन कर लेती हैं। इतना सब कुछ कार्य मात्र एक समय में विकारी आत्मा को होता है। इसप्रकार वर्तमान वर्तते एक समय में भावसंसार खड़ा हो जाने की कहानी है।

इसप्रकार अज्ञानी को हर समय नया संसार उत्पन्न करते हुए अनंतकाल वीत गया; उसने कभी भी इस श्रृंखला (जंजीर) को एक बार भी तोड़ा नहीं। अगर कोई महापुरुष अपने सद्पुरुषार्थ के द्वारा, इस जंजीर की एक कड़ी तोड़ दे तो अनादिकाल से चलते-चले आ रहे भावसंसार का अन्त कर सकता है। द्रव्यकर्म का उदय आदि कोई रोक नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि संसार का उत्पादन एक समय में होता है, उसका उत्पादन रोकने में भी मात्र एक समय ही तो लगेगा? अधिक की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

भावकर्म के अनुसार द्रव्यकर्म कैसे परिणम जाते हैं ?

प्रश्न – पूर्व में बंधे द्रव्यकर्म, वर्तमान के भावों की मंदता-तीव्रता के अनुसार कैसे परिवर्तित हो जाते हैं ?

उत्तर – इसका विस्तार से विवेचन तो करणानुयोग के ग्रन्थों में किया गया है, वहाँ से समझना चाहिये। संक्षेप में इसप्रकार है कि आत्मा तो चेतन द्रव्य है, उसके जो भी भाव होंगे, उनमें तारतम्यता पड़ना स्वाभाविक है। इसलिये पूर्वबद्ध कर्मों के उदय आने के एक आवली काल पूर्व आत्मा के भावों की तारतम्यता निश्चित हो जाती है अर्थात् जो भाव एक आवली काल के बाद प्रगट होंगे, वे किस जाति के कितने मंद अथवा तीव्र प्रगट होंगे, उनका क्रम स्वत: ही उनकी योग्यता से निश्चित हो जाता है; साथ ही पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों के अनुभाग भी अपनी योग्यता से आत्मा के भावों के अनुकूल उक्त आवली काल में हो जाते हैं। कर्मों का अनुभाग अगर आत्मा के भावों से तीव्र रस देने योग्य लेकर उदय में आया होगा तो बाकी का अनुभाग बिना फल दिये ही निर्जरित हो जावेगा। अगर कदाचित् आत्मा का भाव, उदयगत अनुभाग से तीव्रता वाला हो, तो पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों के अनुभाग जो उस काल उदय नहीं आने वाले थे उनके अनुभाग की उदीरणा होकर आत्मा के भावों के अनुकूल बनकर उदय में आने योग्य हो जाते हैं। इसप्रकार कर्मों के अनुभाग का आत्मा के भावों के अनुकूल होकर उदय में आने का विस्तार से विधान करणानुयोग के ग्रन्थों में हैं। वहाँ से जानना चाहिये।

उपरोक्त प्रकार की सहज व्यवस्था, क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को एवं सर्वज्ञता को सिद्ध करती है। आगम का सिद्धान्त है कि 'पूर्व

पर्याययुक्त द्रव्य' को 'उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य' का कारण कहा जाता है वह भी सिद्ध होता है।

उपरोक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा रुचिपूर्वक निर्णय के पुरुषार्थ द्वारा अपने भावकर्मों की श्रृंखला तोड़ने के लिये पूर्ण स्वतंत्र और सक्षम है।

अनादि की श्रृंखला कैसे तोड़ी जा सकेगी ?

प्रश्न – अनादि से चली आ रही विकार के उत्पादन की श्रृंखला एक समय में कैसे टूट सकेगी ?

उत्तर – प्रश्न से ऐसा लगता है कि विकार के अभाव करने को अशक्य समझकर, तू पुरुषार्थ खो बैठा है; परन्तु हे आत्मार्थी ! तेरा ऐसा मानना बिल्कुल मिथ्या है; क्योंकि विकार का अस्तित्व न तो द्रव्य में था और न भूत की पर्याय में तथा भविष्य की पर्याय में भी नहीं रहेगा; फिर इसको अनादि का कैसे माना जा सकता है। यह तो अज्ञानी आत्मा की हर समय किये जानेवाली भूल का फल है। वह भूल वर्तमान की पर्याय में उत्पन्न करता है; लेकिन उस पर्याय का अस्तित्व तो एक समय का ही है फिर तो वह अवश्य ही नाश को प्राप्त हो जावेगी। लेकिन अज्ञानी आनेवाली पर्याय के समय पुन: वैसी ही भूल करता है। इसप्रकार अज्ञान द्वारा उत्पादित की हुई श्रृंखला अनादि से चलती चली आ रही है। इस अपेक्षा इसको अनादि का कहा जाता है। लेकिन इस श्रृंखला को तोड़ने के लिये अनंत काल नहीं लगता सत्पुरुषार्थ से एक समय में टूट जाती है। यह कथन सुनकर तेरी रुचि की उग्रता तीव्र होकर पुरुषार्थ उछलने लगना चाहिये। श्रीमद्राजचन्द्र ने भी कहा है –

"अनंतकाल नो स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनों, ज्ञानथतां दूर थाय ।।"

अर्थ – जैसे अनंतकाल (लंबे काल) का स्वप्न, जाग्रत होते ही विलायमान हो जाता है। उसीप्रकार अनादि से चलता चला आ रहा अज्ञान (विकार) ज्ञान होते ही (अपने आत्मा में अपनापन आते ही) नाश हो जाता है।

वर्तमान की पर्याय में जीव किसप्रकार की भूल करता आ रहा है वह भूल तो इतनी मात्र है कि ज्ञान का स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव होने से वह तो हर समय दोनों को जानता ही रहता है। लेकिन श्रद्धा को उनमें से अपने आत्मा को ही स्व अर्थात् अपना मानना चाहिये था परन्तु उससे विपरीत, परज्ञेयों को अपना मानने की श्रृंखलाबद्ध भूल करता चला आ रहा है। उसी के फलस्वरूप आत्मा का भावसंसार (विकार) अनादि से चलता चला आ रहा है। विकार के अनादिपने का यही इतिहास है; लेकिन कितने भी काल से चला आ रहा हो, सत्यार्थ मार्ग ग्रहण करने से नाश करने में तो मात्र एक क्षण ही लगेगा। इसलिये रुचि के साथ उग्र पुरुषार्थ पूर्वक सत्यार्थ मार्ग ग्रहणकर विकार का आत्यन्तिक क्षय करने के लिये कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिये। यही सार है।

शुद्धता आगामी पर्याय में कैसे जावेगी

प्रश्न – जब पर्याय का अस्तित्व एक समय मात्र का है, और दूसरे समय तो वह व्यय हो जाती है। तब विपरीतता भविष्य की पर्याय में कैसे जावेगी ?

उत्तर – यह बात तो सत्य है कि पर्याय का जीवन एक ही समय का होता है। लेकिन यह भूल जाते हैं कि सत् तो पूरा अखंड द्रव्य है, पर्याय अकेली अलग सत्ता नहीं रखती। द्रव्य एक तो अंशी है, ध्रुव भी उसका एक अंश है और उत्पाद भी अंश है और व्यय भी उसी

अंशी का अंश होने से सभी एक द्रव्य के अंश हैं। इसलिये पर्याय जब व्यय को प्राप्त होती है तब विकार तो स्वभाव का अंश नहीं होने से उसका तो अभाव हो ही जाता है; लेकिन जिस-जिस गुण की जितनी शुद्धता पर्याय में प्रगट हो जाती है, उसका तादात्म्य तो द्रव्य के साथ होता है इसलिये पर्याय के व्यय के साथ शुद्धि का व्यय नहीं होता। ध्रुव तो शुद्धता का भंडार है लेकिन उसका वेदन (अनुभव) नहीं आता; पर्याय में जो शुद्धता प्रगट हो जाती है, उसका द्रव्य के साथ तादात्म्य होता है और पर्याय द्रव्य का अंश होने से अनुभव (वेदन) भी व्यक्त (प्रगट) रहता है।

जैसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति काल में निर्विकल्पदशा के साथ आत्मानुभव होकर मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी का अभाव होने से पर्याय में आंशिक शुद्धि प्रगट हो गयी, निर्विकल्पता समाप्त होते ही उस समय के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन तो नहीं रहता। श्रद्धा का कार्य स्व में अपनापन, ज्ञान का विषय स्व को ही स्व जानना तथा अनंतानुबंधी का अभावात्मक चारित्र, इसप्रकार स्व में आंशिकलीनता स्थिरता के साथ में निरन्तर वेदन वर्तता रहता है। साथ ही वीतरागता रूपी शांति पर में अपनेपन के आकर्षण का अभाव तथा अनाकुलता रूप सुख इत्यादि अनन्त गुणों का आंशिक वेदन तो विकल्पात्मक भूमिका में भी निरंतर वर्तता रहता है। ऐसा वेदन भी उसी पर्याय में वर्तता है, जिसमें विकार भी होता है। लेकिन पर्याय व्यय होने के साथ विकार का तो व्यय हो जाता है और आगामी पर्याय में जीव जितना और जिस जाति का विकार करे तदनुसार नये प्रकार का फिर उत्पादन कर लेता है। लेकिन पर्याय में जो शुद्धता प्रगट हुई है, उसका पर्याय के साथ व्यय होकर भी आगामी पर्यायों में पुन: उत्पाद हो जाता है। जब तक जीव सम्यग्दर्शन बनाये रखेगा, तब तक विकार हो जाने पर

भी उसका नाश नहीं होता, अपितु आगामी पर्यायों में शुद्धि का उत्पाद तो होता ही रहता है। अगर उग्र पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपस्थिरता रूप चारित्र में वृद्धि हुई तो आगामी पर्याय विशेषशुद्धि के साथ प्रगट होगी। जितने अंश में चारित्र की निर्बलता होती है, उतने प्रमाण में विकार का भी उत्पादन होता रहता है। आगम में इसी को कर्मधारा के साथ-साथ ज्ञानधारा का भी ज्ञानी को वर्तते रहना कहा है। हर एक उत्पाद में ऐसी मिश्रदशा ज्ञानी को वेदन में निरंतर वर्तती रहती है।

उपरोक्त प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि पर्याय में विकार का व्यय होकर फिर नवीन विकार जीव उत्पन्न करता है तो होता है, लेकिन शुद्धता जो पर्याय में प्रगट हो जाती है, उसका द्रव्य के साथ तादात्म्य हो जाने से पर्याय के साथ अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इससे आगम का यह सिद्धान्त भी सिद्ध होता है। कि 'पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य'' उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य का कारण होता है।

सम्यक् पुरुषार्थ की तारतम्यता कैसे चलेगी ?

प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पूर्व अज्ञानी द्वारा किये गये सम्यक् पुरुषार्थ की तारतम्यता की श्रृंखला कैसे चलेगी ?

उत्तर – तारतम्यता तो निश्चित रूप से होती है। जिनवाणी में विधान है कि पाँच लब्धियों पूर्वक ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी सम्यक्त्वसन्मुखजीव को, पाँच लब्धियों पूर्वक ही सम्यक्त्व की प्राप्ति बताई है। इससे स्पष्ट है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति तारताम्यतापूर्वक ही होती है।

यह भी स्पष्ट है कि श्रद्धा सम्यक् हुए बिना शुद्धि के उत्पादन का प्रारंभ भी नहीं होता। श्रद्धा गुण का सम्यक्पना उसकी शुद्धि से ही प्रगट हो सकेगा, न तो ज्ञान के क्षयोपशम के निर्णय मात्र से और

न पर की उपेक्षा रूप कषाय की मंदता से और न मन-वचन-काय की किसी प्रकार की चेष्टा के द्वारा प्रगट हो सकेगा।

सम्यक् श्रद्धा के कारणभूत पुरुषार्थ

प्रश्न – तब श्रद्धा गुण की सम्यक्तता में किस प्रकार का पुरुषार्थ कारणभूत होगा ?

उत्तर – मोक्षमार्ग प्रकाशक में बताया है कि सम्यक्त्वसन्मुख जीव को पाँच लब्धियाँ होती हैं। इसलिये सर्व प्रथम सम्यक्त्व का विषय समझने पर ही उसकी सन्मुखता हो सकती है। सम्यक् श्रद्धा का विषय है कि अनादि से जो पर को स्व मान रखा है, उसके परित्यागपूर्वक स्व को ही स्व (अपना) मानना। इसको ही प्राप्त करने का उद्देश्य-ध्येय बनाकर, उसको प्राप्त करने के लिये रुचि एवं परिणति की उग्रतापूर्वक पुरुषार्थ का संलग्न होना ही, सम्यक्त्व की सन्मुखता है। जो आत्मार्थी, प्राप्त क्षयोपशमिक ज्ञान को अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिये लगावे/प्रेरित करे, वह क्षयोपशमलब्धि है। ऐसा होने पर, ऐसी रुचि जाग्रत होना कि मुझे सिद्ध भगवान बनना है। यह विशुद्धलब्धि के अन्तर्गत कषाय की मंदता के भाव हैं। अन्तरंग में ऐसी रुचि उत्पन्न होना ही वास्तव में सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य शुद्धि का बीज है। जिनवाणी का वाक्य है ''रुचिमेव सम्यक्तं'' अर्थात् ''रुचि ही सम्यक्त्व है।'' अर्थात् सिद्ध दशा प्राप्त करने की रुचि का उत्पन्न होना ही सम्यक्त्व का बीजारोपण है। जब यह बीजारोपण हो जाता है तो आत्मा का पुरुषार्थ भी उस ही के पल्लवित करने के लिए कार्यशील हो जाता है। शास्त्र में कहा भी है ''रुचि अनुयायी वीर्य'' अर्थात् पुरुषार्थ भी रुचि को आगे बढ़ने के लिये कार्य करता रहता है। रुचि सिद्ध भगवान बनने का मार्ग समझने के लिये प्रेरित करती है। फलतः रुचिपूर्वक गुरु उपदेश

सत्समागम, जिनवाणी का अध्ययन तथा चिन्तन-मनन के द्वारा सत्यार्थ मार्ग प्राप्त करने का पुरुषार्थ वह देशनालब्धि है।

उपरोक्त विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि क्षयोपशमलब्धि का कार्य तो ज्ञान की पर्याय है, उसमें शुद्धता का अंश प्रगट करने की क्षमता नहीं है। इसी प्रकार विशुद्धिलब्धि में मात्र कषाय की मंदता में भी शुद्धता प्रगट करने की क्षमता नहीं है, लेकिन साथ ही यदि वास्तविक रुचि का बीजारोपण हुआ तो शुद्धता प्रगट करने की क्षमता उस रुचि में है; क्योंकि रुचि का ध्येय सिद्ध भगवान बनना है व सिद्धस्वभावी ध्रुव तत्त्व में अपनापन स्थापन करना है। ऐसी रुचि जाग्रत होते ही मिथ्यात्व का रस आंशिक क्षीण होता जाता है (मंद नहीं, मिथ्यात्व की मंदता का मोक्षमार्ग में कोई मूल्य नहीं है) तथा साथ ही पर में अपनापन ढीला होने से, परिणति को आकर्षित करने वाली अनन्तानुबंधी कषाय भी आंशिक क्षीण होती जाती है। इसी दशा का नाम आत्मा में शुद्धि का अंश (गर्मित शुद्धता) प्रगट होना है। जैसे-जैसे रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तदनुसार ही शुद्धि के अंश भी बढ़ते जाते हैं। ऐसी रुचि के साथ जो आत्मा सिद्ध भगवान बनने का मार्ग समझने का पुरुषार्थ करता है, उसी को देशनालब्धि कहा है। उसके समझने का विषय सिद्ध भगवान का स्वरूप एवं मेरे ध्रुव में ऐसा क्या आकर्षण है, जिससे कि उसमें मेरापन हो जावे यह समझना होता है। देशना के काल में इसके अतिरिक्त विषय तो अनेक आवेंगे, उनमें से आत्मार्थी मात्र ध्येय को प्राप्त कराने वाले उपदेशों को तो रुचिपूर्वक ग्रहण करता जाता है, बाकी के अन्य विषय, रुचि के अभाव के कारण स्वतः गौण रह जाते हैं।

इसप्रकार उद्देश्य की पूर्ति के लिये रुचि अत्यन्त जाग्रत रहती है। रुचि के साथ ग्रहण की हुई देशना उद्देश्य सफल करने के लिये

पुरुषार्थ को प्रोत्साहित करती रहती है। रुचि रहित अथवा अन्य कोई उद्देश्य की सिद्धि के लिये ग्रहण किया गया उपदेश, सम्यक्त्व सन्मुख जीव को देशनालब्धि नहीं बनती। पुरुषार्थ तो रुचि का अनुगामी है, जिधर के विषय की रुचि होगी, पुरुषार्थ उसी विषय को सफल करने के प्रति कार्यशील होगा। "रुचि अनुयायी वीर्य" के अनुसार।

देशनालब्धि का प्रारम्भ ही ध्रुव में सिद्धत्व के स्थापन से होता है।

जिस आत्मार्थी ने अपना ध्येय सिद्ध भगवान बनने का बनाया है। उस ध्येय को प्राप्त करने के लिये सिद्ध भगवान की प्रगट पर्याय में ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिनको मुझे प्रगट करके सिद्ध बनना है। सिद्ध भगवान की विशेषताओं के बाबत, पूर्व प्रकरणों में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं तथा सुखी होने का उपाय भाग-५ के अनंतचतुष्टय वाले प्रकरण में की है, वहाँ से जान लेवें। तथा विशेष जानने के लिए प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन का रुचिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

उक्त विशेषताओं को समझने से रुचि एवं पुरुषार्थ में उग्रता आ जावेगी, फलस्वरूप सिद्ध भगवान के प्रति सहजरूप से श्रद्धा जाग्रत हो जाने से, उनके बताये मार्ग के प्रति एवं वीतरागता प्राप्त करने में संलग्न गुरुओं के प्रति भी सहज ही श्रद्धा जाग्रत हो जावेगी। इसी को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धारूप-व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। ऐसी श्रद्धा सहजरूप से आत्मार्थी को वर्तने लगती है। ऐसी दशा का बिना प्रयत्न के सहजरूप से वर्तना ही, आत्मार्थी की अन्तरंग की आंशिक शुद्धि का प्रमाण है।

तत्पश्चात् सिद्ध भगवान बनने की मेरे में सामर्थ्य भी है या नहीं, इसका निर्णय करने के लिये अपने आत्मद्रव्य के, ध्रुव स्वभाव एवं पर्यायस्वभाव को समझने के लिये द्रव्य-गुण-पर्यायों के स्वरूप

एवं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' एवं 'सत्द्रव्यलक्षणं' तथा 'गुण-पर्यवद्द्रव्यं' आदि के सम्यक् अभ्यास के द्वारा पर्याय की अनित्यता एवं ध्रुव की नित्यता समझता है, जिनकी चर्चा जिनवाणी में विस्तार से उपलब्ध है। उनमें से आत्मार्थी उद्देश्य सफल करने के कारणभूत कथनों को रुचिपूर्वक ग्रहण करते हुए इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि सिद्धत्व तो अनादिअनंत मेरे ध्रुवतत्त्व में विराजमान है। अत: पर्याय में सिद्धत्व प्रगटकर मैं स्वयं सिद्ध बन सकता हूँ। इस निर्णय पर पहुँचते ही आत्मार्थी की रुचि एवं पुरुषार्थ और भी उग्र हो जाते हैं, और पर्याय में वृद्धि को प्राप्त शुद्धि के फलस्वरूप मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी में भी आंशिक क्षीणता बढ़ जाती है। उसका अंश मन-वचन-काय की क्रियाओं में भी प्रगट होने लगता है, अब इसको सिद्धत्व प्राप्त करने के उपायों के समझने में रुचि बढ़ जाती है एवं उक्त मार्ग में बाधक मन-वचन-काय के कार्यों में फंसने की रुचि में सहज कमी वर्तने लगती है।

ऐसा आत्मार्थी समयसार की प्रथम गाथा की टीका के अनुसार सिद्ध भगवान को ज्ञान में एवं सिद्धत्व को अपने ध्रुव भाव में स्थापन कर लेता है और ज्ञान में निर्णय करता है कि सिद्ध भगवान का सिद्धत्व अनंतकाल तक रहने वाला नित्य है और मेरा ध्रुव भी नित्य है, अत: उसमें रहनेवाला मेरा सिद्धत्व भी नित्य रहता है। इसप्रकार सिद्ध भगवान को एवं सिद्धत्व को अपने में स्थापन कर, विकल्पात्मक श्रद्धा में अपना अस्तित्व ही सिद्ध भगवान के समान निर्णय कर लेता है।

साथ ही आत्मार्थी को यह ज्ञान भी वर्तता रहता है कि सिद्धत्व का ध्रुव में अस्तित्व रहने पर भी उसका लाभ तो मेरी पर्याय में अंश मात्र भी नहीं आया; सिद्ध भगवान का सिद्धत्व तो उनकी पर्याय में प्रगट हो गया। लेकिन मुझे भी मेरी पर्याय को इस योग्य बनाना चाहिये; तब मुझे सिद्धत्व का लाभ प्राप्त होगा।

श्रद्धा के साथ ऐसा ज्ञान वर्तने से, आत्मार्थी को स्वच्छन्दता (निश्चयाभासीपना) तो कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। वरन् उसको तो संसार का किनारा दिखने लग जाता है। फलत: रुचि एवं पुरुषार्थ में तीव्रता और भी बढ़ जाती है और परिणति पर की ओर से सिमटकर तथा पर का आकर्षण घटकर, ध्रुव का आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। ऐसा परिणमन सहजरूप से होने लगता है। विकल्पों से नहीं वरन् उनसे तो कर्तृत्वबुद्धि के द्वारा मार्ग भ्रष्ट हो जाता है। उपरोक्त परिवर्तनों का मन-वचन-काय के साथ सहजरूप से निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। फलत: श्रावकोचित क्रियाएँ सहजरूप से वर्तने लगती हैं।

सिद्ध भगवान का स्वरूप समझकर, अपने ध्रुव में सिद्धत्व को स्थापन करके, ध्रुव ही अपनापन स्थापना करने योग्य है, ऐसा अनेक तर्क-वितर्कों द्वारा निर्णय कर, श्रद्धा करने के कार्य में ज्ञान व्यस्त रहता है। इसप्रकार की खोजबीन के समय, कषाय तो सहजरूप से मंद रहती ही है, लेकिन आत्मार्थी का पुरुषार्थ ऐसी मंदता करने का नहीं होता। उसका उद्देश्य तो अस्तित्व के निर्णय का रहता है।

कुछ आत्मार्थी उपरोक्त कथन सुनकर, कषाय मंद करने में लग जाते हैं। वे इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि श्रद्धा सम्यक् हुए बिना चारित्र गुण की शुद्धता प्रारंभ ही नहीं होती। श्रद्धाविहीन कषाय की मंदता तो कर्तृत्वबुद्धि पूर्वक, प्रयत्न करके करनी पड़ती है। और श्रद्धा के साथ अनंतानुबंधी की क्षीणता से जो कषाय मंद होती है, वह तो सहज ही होनेवाली मंदता है उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। जैसे अनाज उत्पादन करने वाले किसान को घास तो सहज ही प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

सिद्धत्व प्रगट करने का उपाय ?

उपरोक्त स्थिति समझकर आत्मार्थी श्री गुरु से पर्याय में भी सिद्धत्व प्रकट करने का मार्ग पूछता है।

श्रीगुरु उसे समयसार की गाथा २ की टीका में बताया मार्ग समझने का आदेश देते हैं (इस संबंध में विस्तार से चर्चा पूर्व में की जा चुकी है, वहाँ से जान लेना चाहिये) कि आत्मा का स्वभाव ही जानते हुए परिणमते रहने का है। और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर के जानने का है। अत: निर्णय करने वाले ज्ञान को यह आवश्यक हो जाता है कि वह विश्व की समस्त वस्तुओं में से स्व और पर का विभागीकरण कर, श्रद्धा को समर्पित करे ताकि श्रद्धा स्व में अपनापन स्थापन कर सम्यक् हो सके। ज्ञान में बने ज्ञेयाकारों में से, अकेले ध्रुव को तो स्व के रूप में मानकर, उसके अतिरिक्त जो भी बाकी रह गये, वे सब पर रूप हैं – जानकर ज्ञान ने निर्णय किया।

ज्ञान के निर्णय का आधार यह रहा कि आत्मा तो अनंतकाल तक रहनेवाला नित्य स्वभावी है। अत: मेरा अस्तित्व नित्य है और ध्रुव भी नित्य है। अत: ध्रुव ही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त जो भी रहे वे पर होने से उनके सम्बन्ध में विचारता है कि पर्याय तो अनित्य स्वभावी है, उसमें मेरा अस्तित्व है भी नहीं तथा हो सकता भी नहीं। मेरे से अन्य जितने भी द्रव्य हैं, वे तो मेरे से पर हैं ही, क्योंकि उनके द्रव्य-गुण-पर्याय सभी उन-उन द्रव्यों के हैं। तथा उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव उनके स्वयं के हैं। अत: वे स्वयं सत्ताधारी पदार्थ हैं। अत: उनमें तो किसी प्रकार भी मेरा अस्तित्व नहीं हो सकता आदि-आदि विचारों के द्वारा, ध्रुव में अपनापन मानने-जानने के साथ अन्य सबको पर जानकर, उनमें परपने की श्रद्धा कराने का कार्य भी ज्ञान के निर्णय से सहजरूप से हो गया।

इसप्रकार आत्मार्थी के विकल्पात्मक श्रद्धा एवं ज्ञान के निर्णय में स्व के रूप में तो मात्र अपना ध्रुव रह गया। वही श्रद्धा का श्रद्धेय हो गया। बाकी सब में परपने की श्रद्धा प्रगट हो जाने से समस्त ज्ञेयों के परिणमनों के प्रति मध्यस्थपने का भाव सहजरूप से जाग्रत हो जाता है।

विचारता है कि मेरी आत्मा के प्रदेशों में जिनका अस्तित्व ही नहीं है, वे मेरे कैसे माने जा सकते हैं उनके परिणमनों (पर्यायों) का स्वामी उनका द्रव्य है, उनके परिणमन उनकी योग्यता के अनुसार परिणमेंगे व परिणम रहे हैं; उनमें मेरा हस्तक्षेप कैसे सफल हो सकेगा ? वे स्वयं स्वतंत्र सत्ताधारी पदार्थ हैं, उनमें कुछ कर तो सकता ही नहीं। अत: उनमें कर्तृत्व का अभिप्राय भी झूंठा है; अत: उनके परिणमनों के प्रति उपेक्षित ही रहना चाहिये, वास्तविकता तो यह है कि उनके जानने की इच्छा भी निरर्थक है। आत्मा में तो सभी का अत्यन्ताभाव है आदि-आदि विचारों द्वारा अपने निर्णय एवं श्रद्धा को प्रगाढ़ करता रहता है।

उपरोक्त विचार ऐसे सम्यक्त्व सन्मुख आत्मार्थी के होते हैं; जो अभी गृहस्थाश्रम में रहता हुआ, अपने कुटुम्ब पालन हेतु व्यापार-धंधे में लगा रहता है। सभी के पाप-पुण्य का उदय समान नहीं होता, प्रतिकूल संयोगों के संघर्ष में व्यस्त भी रहता है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में जूझता दिखता हुआ भी, उपरोक्त प्रकार के विचारों के द्वारा निर्णय एवं ज्ञान-श्रद्धान को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए, अपनी रुचि एवं पुरुषार्थ को उत्तरोत्तर बढ़ाता रहता है।

वर्तमान में उसका उदाहरण धर्मात्मा पुरुष श्री निहालचंदजी सोगानी का है। प्रतिकूल संयोगों की विद्यमानता में भी उनने निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त कर ली। इसलिये आत्मार्थी की अन्तरंग रुचि एवं पुरुषार्थ को किसी प्रकार के संयोग बाधक नहीं होते। उसकी श्रद्धा होती है कि संयोग तो परद्रव्य हैं, मेरे आत्मा के साथ उनका कुछ संबंध नहीं है; उनका तो मेरे में अत्यन्ताभाव वर्तता है आदि-आदि।

इसप्रकार के निर्णयों के द्वारा श्रद्धा को दृढ़ करता हुआ आत्मार्थी, ध्रुव ओर की रुचि को उग्र करता है। ऐसी रुचि से परद्रव्यों के प्रति सहजरूप से आकर्षण घट जाता है। फलत: आत्मशुद्धि में भी वृद्धि होकर, मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी का रस अपेक्षाकृत और भी क्षीण हो जाता है।

आत्मार्थी का तो एक ही उद्देश्य है कि अपनी पर्याय को सिद्धत्व प्रगट करने योग्य बनाना। उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति में बाधक मोह-रागादि भाव का अभाव करने के लिये वह परद्रव्यों का स्वरूप समझकर, उनमें परत्वबुद्धि उत्पन्न कर, निर्भार होता है। और अपनी पर्याय की शुद्धि के लिये प्रयत्न करता है।

आत्मा का जानना तो वस्तुगत स्वभाव है इसलिये जाननक्रिया तो स्वाभाविक क्रिया है और उसका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। ज्ञान में स्व संबंधी ज्ञेयाकार तथा परद्रव्यों संबंधी ज्ञेयाकार ज्ञान का ही परिणमन है अर्थात् ज्ञान ही दोनों के आकार रूप परिणमता है। ऐसी स्थिति में स्व अथवा पर दोनों में से श्रद्धा ने जिसको स्व माना हो, उस ओर ही ज्ञानपर्याय झुक जाती है। स्व ज्ञेयाकारों की ओर झुकने से तो वीतरागता होती है और पर संबंधी ज्ञेयाकारों की ओर झुकते ही मोह-रागादि के भाव होने लगते हैं। यह ही संसार उत्पत्ति का मूल कारण है। ध्रुव में स्वपने की श्रद्धा संसार के अभाव करने का मूल उपाय है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने समयसार गाथा २ की टीका के अंतिम पैराग्राफ में उपरोक्त विषय का निम्नप्रकार विवेचन किया है –

"जब यह (जीव) सर्वपदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियत वृत्तिरूप

(अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्व रूप से लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्व रूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता है, वह स्वसमय है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जब वह अनादि अविद्यारूपी केले की मूल की गांठ की भांति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की अधीनता से दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियतवृत्ति रूप आत्मतत्त्व से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकत्वरूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है, तब पुद्गल कर्म के (कार्माण वर्गणा रूप) प्रदेशों में स्थित होने से युगपद् पर को एकत्व पूर्वक जानता और परद्रव्य में एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ परसमय है। इसप्रकार प्रतीति की जाती है। इसप्रकार जीव नामक पदार्थ की स्वसमय-परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है।''

ज्ञान को सब ओर से समेटकर ज्ञान को उपरोक्त गाथा की टीका को एकाग्रता पूर्वक अध्ययन करें तो इसमें आत्मा को परमात्मा बनाने का सरलतम एवं संक्षिप्त उपाय बता दिया है। समस्त जिनवाणी का सार यही मार्ग है।

आचार्य श्री बताते हैं कि आत्मा का स्वरूप दर्शन-ज्ञान स्वभावी है। ऐसे आत्मतत्त्व का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में ही रहने रूप (अस्तित्वरूप) है, उसमें जो अपनापन अर्थात् एकत्व कर लीनता पूर्वक परिणमन करे वह स्वसमय है, और जो उक्त आत्मतत्त्व से अपनापना छोड़कर, संयोग एवं संयोगीभाव रूप पर को अपना मानकर उनके साथ एकत्वपूर्वक लीन होकर प्रवृत्ति करता है, वह परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि संसारमार्गी है।

तात्पर्य यह है कि आत्मतत्त्व तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है, वह स्वलक्ष्यी ज्ञान का ही विषय है। और दूसरी ओर संयोग एवं संयोगीभाव

हैं जो कि परलक्ष्यी ज्ञान के ही विषय हैं। इनमें जो स्व-प्रकाशक ज्ञान के विषय में अपनापन मानते हुए एकत्वपूर्वक लीन होकर प्रवृत्ति करता है वह स्वसमय होकर सिद्ध बन जाता है। और जो पर-प्रकाशक ज्ञान के विषय ऐसे संयोग एवं संयोगीभावों में अपना मानते हुए, एकत्वपूर्वक लीन होकर प्रवृत्ति करता है, वह परसमय रहकर संसार परिभ्रमण करता है।

प्रश्न – जब ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में स्थित रहना आत्मा का स्वभाव ही है तो जीव उसको छोड़ क्यों देता है ? आचार्यश्री इसी टीका में उत्तर देते हैं कि अज्ञानी अनादि से श्रृंखलाबद्ध, मिथ्या मान्यता रूप अविद्या से उत्पन्न हुआ द्रव्यमोह उसके उदय अनुसार उत्पन्न हुई पर में अपनेपने की मान्यता (भावमोह) रूप प्रवर्तता है, तब दर्शन-ज्ञान स्वभावी आत्मतत्व को छोड़कर, संयोग एवं मोह-रागादि भाव, को अपना मान उनके साथ एकत्वपूर्वक लीन होकर प्रवृत्ति करता है। इसप्रकार परसमय होने का कारण भी बता दिया है।

इसी टीका में आचार्यश्री ने अनादि से चली आ रही श्रृंखला को तोड़ने का उपाय एवं केवलज्ञान उत्पन्न होने का उपाय, ऐसी भेदज्ञान ज्योति का उदय बता दिया है। वह भेदज्ञान ज्योति कैसी है कि सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाली है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के विषय स्व एवं परपदार्थ समस्त होते हैं, और सब ज्ञान में प्रकाशित हैं; अत: संवरपूर्वक होने वाले ज्ञान में स्व तो स्व के रूप में प्रकाशित होता है और पर वे पर के रूप में प्रकाशित होते हैं; और भेदज्ञानी आत्मा का स्व में स्वपना वर्तता है; अत: स्व को स्व मानता हुआ, उसी में एकत्वपूर्वक लीन होकर प्रवृत्त होता हुआ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता प्राप्त कर स्वयं परमात्मा होकर केवलज्ञान प्रगट कर लेता है।

यह ध्यान रखने योग्य है कि अज्ञानी द्वारा किये जाने वाले

भेदज्ञान के विकल्प की यह चर्चा नहीं है; क्योंकि उसको तो पर में अपनापन है। अत: उसको तो स्वप्रकाशक ज्ञान का विषय प्रगट ही नहीं हुआ, वह भेद किससे व कैसे करेगा ? चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मार्थी को तो स्व में स्वपना प्रगट हो जाने से सहजरूप से विकल्पात्मक दशा में भी भेदज्ञान वर्तता रहता है। वह संवरपूर्वक भेदज्ञान होता है। अज्ञानी को भी ज्ञानी बनने के अभ्यास में ऐसे भेदज्ञान संबंधी विकल्प उत्पन्न होते अवश्य हैं, लेकिन वे अभ्यास क्रम में सहजरूप से होते हैं। लेकिन जो रुचि विहीन के प्रयत्नपूर्वक विकल्प उठाये जाते हैं, वे कार्यकारी नहीं होते। उनसे कषाय मंदता होने से पुण्यबंध हो जावेगा, लेकिन ज्ञानी बनने के लिए वे कार्यकारी नहीं होंगे। रुचि सहित के विकल्प तो पर की ओर से वृत्ति को समेटने के अभ्यास क्रम में सहज होते हैं। अत: विकल्पों को साधन मानकर उनमें संलग्न रहना वास्तविक मार्ग से भ्रष्ट होना है। इसलिये आत्मार्थी को सावधान रहना चाहिये।

उपरोक्त विवेचन का सार है कि भगवान सिद्ध का आत्मा तो द्रव्य से शुद्ध, गुणों से शुद्ध एवं पर्याय से भी शुद्ध ऐसा शुद्ध प्रमाण रूप द्रव्य है, ऐसे आत्मा को गुण भेदों से निरपेक्ष देखा जाये तो वह, ''दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियतवृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्व ही है; आत्मा के अनन्तगुण इस ही स्वभाव का अभिनन्दन करते हैं। ऐसा आत्मतत्त्व ही जीव का स्व तत्त्व है। आत्मा का ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। इसलिये ऐसे आत्मतत्त्व को स्व जानकर, उसी में अपनापन स्थापन कर उसी में लीन होकर परिणमन करे तो वह आत्मा स्वसमय है। इसी की पूर्णता को प्राप्त अरहंत भगवान साक्षात् स्वसमय हो गये।

उपरोक्त प्रकार का अज्ञानी आत्मा भी है, वह भी ''दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियतवृत्तिरूप आत्मतत्त्व'' है; लेकिन उसने अनादि

से उक्त आत्मस्वभाव को स्व मानने के विपरीत परज्ञेयों में ही अपनापना माना हुआ है। आत्मा का ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है, लेकिन अज्ञानी का पर में अपनापन मानने से ज्ञान भी पर को ही स्व जानता है, चारित्र भी पर में ही लीन होने की चेष्टा करने लगता है। इसप्रकार अज्ञानी परसमय होने से संसार परिभ्रमण ही करता रहता है।

ऐसा सम्यक्त्व सन्मुख आत्मार्थी जब उपरोक्त यथार्थ स्वरूप समझकर, मार्ग की स्पष्टता, सरलता एवं सहजता समझ लेता है, तब उसकी अन्तरंगरुचि एवं पुरुषार्थ तीव्र हो जाता है। और परिणति भी सब ओर से सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो जाती है, ऐसी दशा में मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी और भी क्षीण (निर्बल) हो जाते हैं। ऐसा अब वह अपने आत्मस्वभाव में एकाग्र होने की चेष्टा करता है। इसप्रकार आत्मार्थी शीघ्र ही प्रायोग्यलब्धि में पदार्पण करने के योग्य हो जाता है।

अनेक बाधाओं को पार करने के पश्चात् ऐसी स्थिति बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुई है, लेकिन कोई दीर्घ संसारी इस स्थिति पर पहुँचने पर भी पर में अपनत्व एवं सुख बुद्धि रुचि की रखता है तो हाथ में आया चिंतामणिरत्न समुद्र में फेंकने के समान अवसर खो देता है। इसलिये उपरोक्त स्थिति में पहुंचने पर, बहुत सावधानी वर्तनी चाहिये, संतुष्ट होकर रुचि को किञ्चित् भी ढ़ीला नहीं होने देना चाहिये। विश्राम के लोभ में नहीं फंसकर, रुचि एवं पुरुषार्थ को आत्मलक्ष्यी रख स्वभाव के आकर्षणपूर्वक परिणति को बनाये रखना चाहिए। पर की ओर किञ्चित् भी आकर्षित नहीं होने देना चाहिये।

प्रायोग्यलब्धि के पूर्व का निर्णय

आत्मार्थी ने पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत की है। पूर्णता का मार्ग समीप दिखने पर रुचि एवं पुरुषार्थ की उग्रता तथा परिणति में पर

के आकर्षणों में अति ढ़ीलापन आकर स्व की ओर का आकर्षण बढ़ जाता है। निर्णय करने का कार्य समाप्त प्राय: सा हो जाता है। रुचि, परिणति एवं पुरुषार्थ तीनों मिलकर आत्मा का साक्षात्कार करने योग्य हो जाते हैं।

आत्मा का अनुभव करने में एकाग्रता करने के लिये तो ज्ञान के सामने मात्र अकेला ज्ञायक आत्मा ही रहना चाहिये। लेकिन उसमें तो अनेक प्रकार के भेद (गुणभेद) ज्ञात होते हैं। इसलिये जब तक सभी द्वैत निरस्त होकर, एक ज्ञाता-दृष्टास्वभावी ज्ञायक नहीं रह जावेगा; तब तक एकाग्रता किसमें होगी। अत: रुचि, पुरुषार्थ एवं परिणति की उग्रता के साथ ज्ञान ऐसे भेदों को निम्नप्रकार से निरस्त करने का प्रयास करता है।

आत्मार्थी यह निर्णय तो कर चुका है कि आत्मा तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव में अस्तित्व रूप ज्ञायक तत्त्व है। वह सिद्ध भगवान में प्रगट हो गया। अत: मेरा भी आत्मा तो वह ही है। सत् तो द्रव्य है यथा 'सत् द्रव्यलक्षणं' उसी सत् के तीन अंश हैं यथा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' अत: एक तो नित्यस्वभावी ध्रुव सत् और दूसरा अनित्यस्वभावी पर्याय सत्। ध्रुव तो सिद्ध स्वभावी त्रिकाली सत् है और पर्याय परिवर्तनशील एक समयवर्ती सत् है, लेकिन अज्ञानी की पर्याय तो स्वभाव से विपरीत परिणमन करती है। फलत: आत्मा की सामर्थ्यों का अनुभव नहीं हो पाता। उसने अनादि से अपने को पर्याय जैसा और जितना ही माना है। इसलिये आचार्यों ने पर्याय से अपनेपने की मान्यता छोड़कर ध्रुव में अपनापन करने की प्रेरणा दी है। पर्यायदृष्टि छुड़ाने के लिये सत् के ही अंश पर्याय को भी पर कहकर द्रव्यदृष्टि कराई है। जिनवाणी का वाक्य है, ''द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि'' इसप्रकार आचार्यश्री ने ध्रुव में अपनापन कराया है। इसके पश्चात् ध्रुव एवं

पर्याय को एक अंशी में ही अभेद करने से द्रव्य और पर्याय का भेद भी निरस्त हो जाता है। इसप्रकार ध्रुव और पर्याय का भी द्वैत निरस्त होकर एकाग्रता का विषय एक मात्र ध्रुव ही रह जाता है।

सिद्ध भगवान का आत्मा स्वभाव में ही सदैव अस्तिरूप विराजमान है और आत्मा के अनंत गुण उसी ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मतत्त्व का ही अभिनंदन करते हैं अर्थात् अभेद होकर रहते हैं। मेरा आत्मतत्त्व भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। अत: अनन्त गुण मेरे उस स्वभाव का ही अभिनन्दन करने वाले हैं। अत: वे सब ज्ञायक में ही तो अभेद होकर रहते हैं। इसप्रकार ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा में अपनापन होते ही गुण भी अभेद होकर ज्ञायक में समाविष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है गुण भेद भी सहजरूप से निरस्त होकर, सभी प्रकार के द्वैत समाप्त होकर एक ज्ञायक ध्रुव ही एकाग्रता के लिये रह जाता है।

उक्त आत्मार्थी को ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के विभाग संबंधी विकल्पों का तो अस्तित्व ही नहीं रहता; क्योंकि ज्ञान की पर्याय ही तो, स्व एवं परद्रव्यों के ज्ञेयाकारों रूप परिणमी है। अत: वह ज्ञानपर्याय स्वत: ही तो ज्ञान है और ज्ञाता भी वह स्वयं ही है और ज्ञेय भी स्वयं ही है। अत: ज्ञाता भी ज्ञान, ज्ञेय भी ज्ञान और ज्ञान तो ज्ञान है ही, अत: ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेदों का भी अस्तित्व नहीं रहता। तथा ज्ञानपर्याय का ज्ञायक के साथ तादात्म्य वर्तता है। अत: ज्ञाता द्रव्य और ज्ञानपर्याय का भेद भी समाप्त होकर, स्वत: ही सभी प्रकार के द्वैत निरस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी ज्ञायक में अस्तित्व मानने वाले को सभी प्रकार के द्वैतों के निरस्त करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वरन् वे सहजरूप से निरस्त हो जाते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है कि –

एक देखिए जानिये रमि रहिये इकठौर।
समल विमल न विचारिये यही सिद्धि नहिं और ।।२०।।

समयसार गाथा ६ का भी यही अभिप्राय है –

गाथार्थ – जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं; और जो ज्ञायकभाव से ज्ञात हुआ वह तो वही है, अन्य कोई नहीं ।।६।।

निष्कर्ष –

इसप्रकार विकल्पात्मक ज्ञान में आत्मार्थी इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि अनादि काल से मैंने आत्मा को अनेक शरीरादि परद्रव्यों का स्वामी मान रखा था, लेकिन वे मेरी आज्ञानुसार नहीं चलते तथा इनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी मेरे से भिन्न हैं और इस भव में ही मेरा साथ छोड़ देते हैं, अत: उनमें मेरेपने की मान्यता मिथ्या थी। मैं तो सिद्ध स्वभावी ध्रुव ज्ञायक हूँ, इनका जानना भी मेरी ही पर्याय है, उपचार से मात्र ज्ञाता-ज्ञेय संबंध कहा जा सकता है। इसलिये इनमें मेरा अपनापन नहीं रहा; मैं तो एक ज्ञायक तत्त्व हूँ। ऐसे निर्णय के द्वारा असद्भूत उपचरित नयों के विषयों से अपनत्व का अभिप्राय छोड़ देता है।

इसके साथ आत्मा में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों के संबंध में विचार कर उनसे भी अपनेपन का संबंध तोड़ने का प्रयास करता है। मैं तो सिद्धस्वभावी ध्रुव ज्ञायक आत्मा हूँ; मेरे भंडार में तो विकार का अस्तित्व ही नहीं है और जिन द्रव्यों को अपना मानता था, उनमें भी विकार का अस्तित्व नहीं है। और मेरी पर्याय की ओर देखा जाए तो उसका अस्तित्व न तो पूर्व समयवर्ती पर्याय में था और न आगामी समय उत्पन्न होनेवाली पर्याय में है।

निष्कर्ष है कि विकार तो मात्र वर्तमान की एक समयवर्ती पर्याय में ही उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है। अत: ऐसी पर्याय मेरी कैसे हो सकती है, इसलिये पर ही है, मैं तो पर्यायों रूप नहीं हूँ। विकार की उत्पत्ति का कारण तो परज्ञेयों में अपनापन मानना है। अज्ञान दशा में मैंने ही पर को अपना मानकर उनका अपने में संयोग कर लिया। अगर परज्ञेय रूप में जानता तो संयोग मेरे में नहीं होता फलस्वरूप संयोगी भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव भी उत्पन्न नहीं होते। तथा संयोगी भावों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध के कारण उत्पन्न होने वाले द्रव्यकर्मों का बंध भी नहीं होता – ऐसा होने पर भविष्य के संसार निर्माण की श्रृंखला ही समाप्त हो जावेगी तथा सहजरूप से द्रव्यकर्मों का संबंध भी छूट जावेगा अर्थात् उनका नाश हो जावेगा।

तात्पर्य यह है कि त्रिकाली ज्ञायक सिद्धस्वभावी ध्रुव तत्त्व में अपनापन होने मात्र से समस्त संयोग, संयोगी भाव एवं द्रव्यकर्मों, भावकर्मों में स्वामित्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व तथा एकत्व-ममत्वबुद्धि समाप्त हो जाती है।

इसप्रकार विकारी पर्याय का कर्ता मैं नहीं रहता उनके कर्ता या तो वे संयोग अथवा निमित्तरूप होनेवाले द्रव्यकर्म हों अथवा उन-उन पर्यायों की तत्समयवर्ती योग्यता उत्पादक हो। मैं तो उनका कर्त्ता नहीं हूँ, मात्र ध्रुव ज्ञायक हूँ। आत्मार्थी अपने विकल्पात्मक ज्ञान में ऐसा निर्णय कर, उन सबकी ओर से अपनी परिणति को समेटकर एकमात्र स्वद्रव्य की ओर लक्षित कर लेता है। उपरोक्त सबके कर्तृत्व के भारी बोझ से निर्भार हो जाता है।

इसप्रकार असद्भूत अनुपचरित एवं सद्भूत उपचरित विषयों से अपनत्वबुद्धि छूटकर, त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व में अपनत्व बुद्धि स्थापन कर लेता है। लेकिन अब स्व के ही अंश ऐसे शुद्ध गुण एवं निर्मल

पर्यायों के भेद जिनको पर तो नहीं माना जा सकता; परन्तु उनके लक्ष्य से विकल्प (राग) उत्पन्न होता है। अत: भेदरूपी व्यवहार जिसको सद्भूत अनुपचरित नय का विषय कहा गया है। उनका सद्भाव भी निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट होने में बाधक है। अत: ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्त्व में अनंत गुण एवं उनकी निर्मल पर्यायें तो अभेद रूप से परिणमते रहते ही हैं। ज्ञायकभाव का ही सब अभिनंदन करते हैं। अत: द्रव्य के अभेद अस्तित्व और अभेद परिणमन में सभी अभेद रहते ही हैं। इसप्रकार भेद विकल्प निरर्थक ही हैं, क्योंकि ज्ञायक भी ज्ञान, ज्ञान भी ज्ञान और ज्ञेय भी ज्ञान होने से तथा ज्ञान का ज्ञायक के साथ तादात्म्य होने से ऐसा भेद भी निरस्त हो जाता है। ऐसा ज्ञायक ही मैं हूँ। ज्ञायक ही मेरा अस्तित्व है। अद्वैत रूप एक ज्ञायकस्वभाव में ही एकाग्रता होने से सर्व सिद्धि है।

आत्मार्थी ने सर्वप्रथम अपने आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना कर उनके सिद्धत्व को अपने ध्रुव में स्थापन कर, सिद्ध भगवान बनने का संकल्प करके साधना प्रारंभ की थी। तात्पर्य पूर्णता के लक्ष्य से साधना प्रारंभ की थी। उसका मार्ग समझने के लिये श्रीगुरु का एवं जिनवाणी का शरण लेकर देशनालब्धि द्वारा यथार्थ मार्ग समझा और मार्ग समझकर निष्कर्ष रूप में उपरोक्त निर्णय पर पहुंच गया। इसप्रकार सब अवरोधों को पार कर देशनालब्धि की चरम सीमा पर पहुंच जाता है। देशनालब्धि में आत्मार्थी परलक्ष्यी विकल्पात्मक ज्ञान में उपरोक्त निर्णय कर लेता है। यह निर्णय ही देशनालब्धि का चरम निर्णय है। परलक्ष्यी ज्ञान में अब कुछ करना बाकी नहीं रहता। उपरोक्त निर्णय को क्रियान्वित करने का कार्य परलक्ष्यी ज्ञान से संभव नहीं होता। ज्ञान के स्वलक्ष्यी होने पर ही प्रायोग्यलब्धि प्रारंभ होती है।

उपरोक्त समस्त चर्चा ज्ञान के क्षयोपशम के निर्णय की

मुख्यतापूर्वक की गई है। लेकिन निर्णय का पृष्ठबल तो पूर्णता प्राप्त करने की रुचि की उग्रता एवं परज्ञेयों का आकर्षण तोड़कर अपने ज्ञायक का आकर्षण बढ़ाने वाली परिणति की वृद्धि तथा तत्संबंधी पुरुषार्थ मुख्य कार्यकारी होते हैं। रुचि विहीन परिणति तथा ज्ञान के क्षयोपशम का निर्णय कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। अज्ञानदशा में कर्तृत्वबुद्धि का पृष्ठबल तो रहता ही है, अत: क्षयोपशमिक ज्ञान के निर्णय करने में कुछ किया हो ऐसा लगने में कार्य तो सरल लगता है। साथ ही निर्णय करने में थोड़ी कषाय मंदता होना भी अनिवार्य होता है, इसलिये उसमें संलग्न हो जाता है। और ऐसा मानता है कि ऐसा निर्णय करना ही मुक्ति का मार्ग है। फलत: रुचि एवं परिणति का महत्व बहु भाग आत्मार्थियों को नहीं रहता और वे भूल जाते हैं कि समझने में तो ज्ञान परलक्ष्यी रहकर ही कार्य करता है और आत्मानुभव तो ज्ञान के स्वलक्ष्यपूर्वक स्वरूप में एकाग्र होने पर ही होता है। तात्पर्य यह है कि मात्र ज्ञान का निर्णय ही आत्मानुभव नहीं करा सकता।

परलक्ष्यी ज्ञान द्वारा तो स्व एवं पर का स्वरूप समझकर रुचि को उग्रकर ज्ञायक में अपनापन स्थापन कर एवं उसमें आकर्षण बढ़ा कर, ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर, ज्ञायक में एकाग्र होने का पुरुषार्थ ही, आत्मानुभव प्राप्त करा सकता है; मात्र निर्णय नहीं। निर्णय तो मार्गदृष्टा है, लेकिन मार्ग पर गमन कर प्राप्त करने का कार्य तो रुचि एवं परिणति से ही होगा। अन्य कोई उपाय है नहीं।

तात्पर्य यह है कि यह उपरोक्त प्रकार का सत्यार्थ निर्णय ही देशनालब्धि की चरमदशा का निर्णय है। ऐसे निर्णय के द्वारा ज्ञायक ध्रुव में ही अपनेपन की श्रद्धा जाग्रत होकर, एक ज्ञायक ही आकर्षण का केन्द्र रहकर, रुचि एवं परिणति का जोर ज्ञान को स्वरूप में एकाग्रता

करने को बाध्य कर देवे, ऐसा उग्र पुरुषार्थ ही आत्मार्थी को प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश करा देगा।

उपरोक्त किये गये निर्णय का अस्तित्व तो प्रायोग्यलब्धि में वर्तनेवाले ज्ञान में बना रहता है। उस निर्णय को बार-बार स्मृति में नहीं लाना पड़ता; क्योंकि वह निर्णय श्रद्धा में भी प्रवेश कर गया है। प्रायोग्यलब्धि में तो रुचि इतनी उग्र होती है कि इसी क्षण निर्विकल्प होकर आत्मानुभव कर लेवे, लेकिन जब तक अनंतानुबंधी का आत्यन्तिक अभाव होकर परिणति इतनी बलिष्ठ नहीं हो जाती कि एकाग्र हो सके, तब तक आत्मानुभव नहीं होता। प्रायोग्यलब्धि के काल में रुचि की उग्रतापूर्वक मुख्यतया ज्ञान स्वलक्ष्यी बना रहेगा अर्थात् ज्ञायक में एकाग्र होने के पुरुषार्थ की जितनी उग्रता होगी, उतनी ही शीघ्र अनन्तानुबंधी का अभाव होकर करणलब्धि पार कर आत्मानुभूति के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट हो जावेगा। ऐसी दशा वर्तते रहना ही प्रायोग्यलब्धि है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी का सविकल्प से निर्विकल्प होने का विधान वाला प्रकरण एवं उस पर किये गये पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन जो अध्यात्म संदेश के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं; उनका मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिये। उन प्रवचनों में पूज्य स्वामीजी ने सविकल्प से निर्विकल्प होने की विधि के १४ स्टेजों को पार करने पर प्राप्त होने का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त प्रवचनसार की गाथा ८० की टीका एवं तत्सम्बंधी स्पष्टीकरण तथा समयसार ग्रंथ गाथा १४३-१४४ की टीका के साथ संवर अधिकार एवं समयसार परिशिष्ट के अध्ययन से भी आत्मार्थी को अपने निर्णय की समीचीनता के ऊपर विश्वास होकर मार्ग पर श्रद्धा नि:शंक होगी एवं रुचि में उग्रता आकर परिणति भी पर की ओर से सिमटकर आत्मलक्ष्यी होने से सफलता भी शीघ्र प्राप्त होगी।

प्रायोग्यलब्धि में सावधानी

जिनवाणी का कथन है कि प्रायोग्यलब्धि में पहुंच कर भी, अगर, रुचि में जरा भी परिवर्तन आ गया तो दुर्लभातिदुर्लभ प्रायोग्यलब्धि जैसा अवसर प्राप्त कर भी मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है; सम्यक्त्व की सन्मुखता भी नहीं रहती। ऐसे जीव का ज्ञान में निर्णय तो यथावत् बना रहता है; लेकिन रुचि परिवर्तित हो जाने से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

प्रश्न – रुचि में कैसा परिवर्तन आ जाता है ?

उत्तर – रुचि से भ्रष्ट होनेवाला जीव लक्ष्य से भ्रष्ट होकर परज्ञेयों में अपनेपन की बुद्धि आदि के द्वारा रुचि में परिवर्तन कर लेता है। मंद कषाय के भावों में संतोषवृत्ति उत्पन्न हो जाने से रुचि का विषय बदलकर, ज्ञायकपने से भ्रष्ट हो जाता है। फलस्वरूप दुर्लभातिदुर्लभ अवसर हाथ से चला जाता है। इसलिये आत्मार्थी को बहुत सावधान रहते हुए रुचि के विषय के प्रति जरा भी ढ़ीलापन नहीं आने देना चाहिये। रुचि के ढ़ीला होते ही परिणति भी तत्क्षण साथ छोड़ देती है।

पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी एवं अध्यात्म संदेश में पूज्य श्रीस्वामीजी के प्रवचनों में बताया है कि आत्मार्थी जब यथार्थ पुरुषार्थ करता है और प्रायोग्यलब्धि की चरमदशा के समीप पहुंचता है। तब कषाय इतनी मंद हो जाती है कि उसको विशेष प्रकार की प्रसन्नता अर्थात् आकुलता की अत्यन्त कमी के अनुभव रूप प्रसन्नता उत्पन्न होती है, उस समय रोमांच भी हो जाता है, लेकिन यह दशा भी सविकल्प दशा में होनेवाली मंदता है, निर्विकल्प दशा का आनंद नहीं है। अत: परिपक्व आत्मार्थी भी इस दशा को निर्विकल्प दशा का आनन्द मानकर संतोषवृत्ति कर, लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। और अमूल्य

अवसर खो देते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी ने 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत' की है। अत: लक्ष्य को प्राप्त करने में अत्यन्त जाग्रत रहना चाहिये बीच में आने वाले आकर्षण में फंसकर लक्ष्य भ्रष्ट नही हो जाना चाहिये। निर्विकल्प दशा भी तो क्षणिक-अनित्य पर्याय है। आत्मार्थी का लक्ष्य तो ज्ञायक ध्रुवतत्त्व है; उसमें एकाग्र होने के बीच में सविकल्प-पर्याय हो अथवा निर्विकल्प पर्याय हो दोनों ही मेरे लक्ष्य नहीं हैं। ऐसी अकाट्य रुचि के साथ जो पुरुषार्थ कार्य करता है, उसको निर्विकल्पता की रुचि नहीं होती। ऐसे ही आत्मार्थी को निर्विकल्पता दशा आती है। निर्विकल्पदशा की रुचि रखने वाले को निर्विकल्प आत्मानुभूति नहीं होती; कारण ऐसी रुचि तो पर्यायदृष्टि है, पर्यायदृष्टि जीव को निर्विकल्पता नहीं आती। इसलिये रुचि का विषय तो मात्र ज्ञायक परमात्मा है, वही मैं हूँ। यह सुरक्षित बना रहे, इसकी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये।

सत्यार्थ रुचि की पहिचान क्या ?

सत्यार्थ रुचि उत्पन्न होने के साथ-साथ मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी के निषेक क्षीण होते जाते हैं। श्रद्धा में तो सिद्ध स्वभावी ज्ञायक परमात्मा मैं स्वयं हूँ वीतरागी होने से अनाकुल आनन्द स्वभावी एवं सर्वज्ञ स्वभावी भी मैं स्वयं हूँ। ऐसा स्वाभिमान वर्तने लगता है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि ज्ञानी की श्रद्धा ऐसी वर्तने लगती है कि – ''श्रद्धा अपेक्षा मुझे केवलज्ञान हुआ है, विचार दशा में केवलज्ञान वर्त रहा है एवं मुख्य नय (निश्चय नय) की अपेक्षा मैं केवलज्ञान स्वरूपी हूँ...।''

अत: न तो सुख के लिये कुछ प्राप्त करने की रुचि रहती है और

ना ही पर को जानने का उत्साह रहता है। ऐसा सहजरूप से होता है। लेकिन चारित्रमोह की निर्बलता में वर्तने वाले भाव एवं क्रियाएँ भी हो जाती हैं फिर भी उनमें सुखबुद्धिपूर्वक होनेवाली गृद्धता टूट जाती है। रुचि ज्ञायक स्वभाव की वर्तने से लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता।

परज्ञेयों के परिणमन ज्ञान में आना तो अवश्यम्भावी है एवं चारित्रमोह का मंद उदय वर्तने पर भी उन ज्ञेयों में आकर्षित होकर फंस भी जाता है, करने धरने परिवर्तन करने संबंधी भाव भी होते हैं, लेकिन ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा (रुचि) होने से तथा ज्ञेयों में परपना और उनकी योग्यतानुसार परिणमन का विश्वास होने से, परिणति की शुद्धता आत्मार्थी को ऐसा नहीं फंसने देती कि लक्ष्य भ्रष्ट हो जाए।

उपरोक्त वर्तने वाले सहज परिणमन के साथ वर्तते हुए विकल्पों की जाति में भी बिना प्रयास करे परिवर्तन आ जाता है। पूर्व दशा में तो कर्तृत्वबुद्धि पूर्वक के विकल्प उठते थे, अब सहज रूप से अकर्तृत्व बुद्धिपूर्वक के विकल्पों की बाहुल्यता हो जाती है।

संक्षेप में कहा जाए तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी ध्रुव तत्त्व में अहंबुद्धिपूर्वक, परज्ञेयों में परत्व बुद्धिपूर्वक की श्रद्धा के कारण कर्तृत्वबुद्धि के आकर्षण घटने लगते हैं एवं अनंत सुखस्वभावी ज्ञायक तत्त्व के प्रति सहजरूप से आकर्षण वर्तने लगता है। संक्षेप से यह सत्यार्थ रुचि की पहिचान है।

इसप्रकार आत्मार्थी अपनी रुचि एवं परिणति की सत्यार्थता को सहज वर्तने वाले परिणमनों से अवश्य पहिचान सकता है; लेकिन अन्य आत्मार्थी की रुचि की वास्तविकता को दूसरा व्यक्ति नहीं पहिचान सकता। वास्तव में धर्म तो अपने कल्याण के लिये किया जाता है। दूसरे के दोष देखने के लिये नहीं। इसलिये आत्मार्थी को परलक्ष्य छोड़ अपने प्रयोजन में सावधान रहना चाहिये।

निर्विकल्पता की परिभाषा एवं उत्पत्ति

निर्विकल्प शब्द ही अपने अर्थ को परिभाषित कर देता है। विकल्प का नहीं होना ही निर्विकल्पता है। विकल्प का अर्थ है विशेषकल्प अर्थात् ज्ञान का विशेष जानने के लिये प्रवर्तित होना वह विकल्प है। संसारी छद्मस्थ को वह जानना राग मिश्रित होता है, अत: प्रस्तुत प्रकरण में विकल्प से निर्विकल्प होने के विषय में मात्र छद्मस्थ प्राणी की मुख्यता से चर्चा की गई है, वीतराग दशा के विकल्प की नहीं।

रुचि एवं परिणति की क्रमश: बढ़ती हुई उग्रता और भी बलिष्ठ होती जावे, पर की ओर का आकर्षण और भी ढीला पड़ता जावे, तदनुसार उपयोगात्मक ज्ञान में भी स्व की ओर का आकर्षण आरम्भ होकर, परप्रकाशक उपयोगात्मक ज्ञान में भी ढीलापन होना प्रारंभ हो जावे; ऐसी अन्तर्दशा होना ही वास्तव में प्रायोग्यलब्धि का प्रारम्भ है। इस लब्धि के परिणाम निर्विकल्पक तो हैं नहीं, लेकिन देशनालब्धि जैसे, सविकल्पक भी नहीं होते। विकल्पात्मक होते हुए भी विकल्पों की पकड़ अर्थात् प्रगाढ़ता में ढीलापन आ जाता है अर्थात् विकल्पों की जाति ही परिवर्तित हो जाती है।

प्रायोग्यलब्धि के काल में रुचि एवं परिणति क्रमश: बढ़ते हुए नब्बे डिगरी तक पहुँच जाती है, साथ ही सब गुणों की पर्याय भी क्रमश: बढ़ते हुए स्व में तन्मय होने की ओर अग्रसर होती जाती हैं; पर का आकर्षण क्रमश: घटता जाता है एवं अपने त्रिकाली ज्ञायक-अकर्ताध्रुव की ओर का आकर्षण बढ़ता जाता है। फलस्वरूप ज्ञान का भी परलक्ष्यीपना घटते हुए, स्वलक्ष्यीपना बढ़ता जाता है, तदनुसार विकल्पों की प्रगाढ़ता एवं पकड़ भी क्रमश: ढीली पड़ती हुई नब्बे डिगरी तक घटती जाती है। ऐसी दशा तक पहुँच जाने पर भी आत्मदर्शन

नहीं हो पाता। मात्र दस डिगरी की कमी भी आत्मदर्शन में बाधक बनी रहती है। उपयोगात्मक ज्ञान का विषय यहाँ तक भी पूर्णत: आत्मलक्ष्यी नहीं हुआ, मात्र दस डिगरी की कमीवाली ज्ञान पर्याय, विकल्पात्मक बनी रहकर, आत्मदर्शन नहीं होने देती। इस स्थिति पर पहुँचनेवाली आत्मा की परिणति प्रायोग्यलब्धि के चरम परिणाम हैं। आत्मा को उपरोक्त दशा तक पहुँचाने का श्रेय एकमात्र रुचि की उग्रता अर्थात् ध्रुवतत्त्व ही मैं हूँ – सिद्ध स्वरूपी ही मैं हूँ – ऐसी दृढ़तम श्रद्धा को एवं ज्ञान में ज्ञात होनेवाले परप्रकाशक ज्ञान के विषयों के स्वतंत्र परिणमन की दृढ़तम श्रद्धापूर्वक, परपना होने को है। अकर्तृत्त्व के कारण अत्यन्त माध्यस्थभाव वर्तने लगता है। सबकी ओर से सिमटकर परिणति की स्व-स्वरूप में तन्मय होने योग्य शुद्धता हो जाती है। यही मात्र, संक्षेप में प्रायोग्यलब्धि के परिणामों का परिचय है।

करणलब्धि के परिणाम इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे तो केवलीगम्य ही हैं; करणलब्धि में वर्तनेवाले आत्मार्थी को भी गम्य नहीं हो सकते; क्योंकि इस लब्धि को प्राप्त आत्मार्थी की रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता इतनी उग्र होती है कि उसके आत्मा का सम्पूर्ण पुरुषार्थ, एकमात्र त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में तन्मय होने के सन्मुख वर्त रहा होता है एवं परलक्ष्यी ज्ञान की प्रगाढ़ता एवं पकड़ दस डिगरी मात्र की रह गई होती है। वह कमी कब समाप्त होकर निर्विकल्प हो गया, यह इसके उपयोग में आ नहीं पाता। आत्मा का उक्त परिणामों का परिणमन तो पर्यायगत है और आत्मार्थी का उपयोग एवं पुरुषार्थ तो पर्याय से व्यावृत्य होकर त्रिकालीध्रुवतत्त्व के सन्मुख हो रहा है। अत: करणलब्धि के परिणामों को जानने का भाव ही नहीं रहता। करणलब्धि का काल अधिक से अधिक हो तो अन्तर्मुहूर्त काल है और पुरुषार्थी को निश्चित रूप से आत्मदर्शन हो जाता है। छद्मस्थ का उपयोग ही असंख्य

समय का है अत: कम से कम काल लगे तो असंख्य समय में तो आत्मदर्शन हो ही जाता है। इसी क्रिया को पक्षातिक्रान्त भी कहा जाता है। आत्मदर्शन से मार्ग के प्रति अपार महिमा जाग्रत होकर अकाट्य और नि:शंक श्रद्धा हो जाती है; फलत: समस्त प्रकार की भटकने समाप्त हो जातीा हैं तथा परिणति को सब ओर से नि:शंकतापूर्वक समेटकर, आत्मा में एकाग्रतापूर्वक निर्विकल्प होकर दर्शनमोह का अभाव कर देता है। इसप्रकारं सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सहज सरलतम सर्वोत्कृष्ट संक्षेप मार्ग अपनाकर आत्मदर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है।

प्रायोग्यलब्धि के पुरुषार्थ का प्रकार

प्रश्न – प्रायोग्य में ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर कार्य करने लगे इसके लिए पुरुषार्थ किसप्रकार वर्तता है ?

उत्तर – जिसप्रकार विवाह के इच्छुक व्यक्ति के सगाई होने के पूर्व, रुचि के पृष्ठबल सहित, अनेक बालिकाओं के आकर्षण समाप्त होकर, मात्र एक बालिका में सीमित हो जाते हैं। तत्क्षण ही भटकता हुआ ज्ञान भी सिमटकर उस एक ही बालिका में सीमित हो जाता है। उसीप्रकार अभी तक जो आत्मार्थी भी क्रमश: बढ़ती हुई रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धतापूर्वक, आत्मस्वरूप समझकर निर्णय करने में आगमअभ्यास, सत्समागम, चिन्तन-मनन आदि कार्यों में संलग्न रहता था, ज्ञान निरन्तर प्रमाण नय आदि तथा तर्क युक्तियों द्वारा निर्णय करने के लिए व्यग्र रहता था, वही आत्मार्थी यथार्थ निर्णय कर लेने पर अपने आत्मस्वरूप में सिमट जाता है। खोजने की व्यग्रता समाप्त होकर वृत्ति आत्मसन्मुख हो जाती है तथा श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र तीनों का विषय एक हो जाता है। उपरोक्त स्थिति तो देशनालब्धि की चरमदशा की द्योतक है। इस स्थिति प्राप्त आत्मार्थी की क्रमश:

बढ़ती हुई रुचि की एवं परिणति की विशुद्धता (गर्भित शुद्धता) जो कि क्षयोपशमलब्धि के काल से ही धारावाहिक रूप से बढ़ती आ रही थी सबका विषय भी एक ही था, लेकिन फिर भी ज्ञान तो समझने के लिए भटकता रहता था, अब उसका भी विषय रुचि एवं परिणति के साथ होकर तीनों का विषय एक ही हो जाता है। अत: इस स्थिति अर्थात् प्रायोग्यलब्धि के काल में तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों आत्मस्वरूप प्राप्त करने में संलग्न हो जाते हैं। अत: तीनों की एकता होने से यहाँ से पुरुषार्थ का प्रकार ही बदल जाता है देशनालब्धि तक तो ज्ञान परलक्ष्यी होकर कार्यरत था। जिसप्रकार विवाह इच्छुक पुरुष का ज्ञान, सगाई होने तक तो अनेक कन्याओं में भटकता था लेकिन सगाई होते ही रुचि एवं परिणति के साथ ज्ञान भी उस एक ही कन्या में मर्यादित हो जाता है। अब तो उसका ज्ञान, उस ही कन्या की विशेषताओं को खोजकर विकसित करने के उपायों सहित शीघ्र सम्मिलन प्राप्त करने के लिए आतुरित हो जाता है। इस स्थिति में अन्य विचार आ भी जावे तो उनकी ओर से अपने को व्यावृत्य कर लेने की ही चेष्टा करता है; उस ओर की अरुचि वर्तती है। इसप्रकार तीनों की एकता होकर वर्तती हुई प्रवृत्ति ही, विवाह होकर सम्मिलन करने का कारण बनती है।

इसीप्रकार जिस आत्मार्थी ने देशना की चरमदशा पर, श्रद्धा (रुचि) ज्ञान एवं चारित्र (परिणति) का विषय एक अपना त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व बना लिया हो अर्थात् एकत्व करने को तत्पर हो गया हो; ऐसे आत्मार्थी का ज्ञान भी संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित होकर सब ओर से सिमटकर, निर्णय के विषय को ही स्व के रूप में मान लेने से, रुचि की उग्रता और भी तीव्र हो जाती है; साथ ही चारित्र भी नि:शंक होकर, अपने स्वरूप में ही तन्मय होने के लिए चेष्टित हो जाता है। ऐसी दशा का प्रारम्भ होना ही वास्तव में प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश है। ज्ञान के यथार्थ निर्णय पर पहुँचने के पूर्व,

श्रद्धा (रुचि) एवं चारित्र (परिणति) ने भी, अपने ध्रुव स्वभाव को विषय बनाया था, लेकिन उसमें नि:शंकता नहीं वर्तने के कारण, श्रद्धा एवं चारित्र भी सफलता को प्राप्त नहीं होते थे। लेकिन ज्ञान के द्वारा, जब संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित, अपने स्वरूप का यथार्थ निर्णय हुआ तो उस निर्णय ने श्रद्धा को भी स्वरूप के प्रति नि:शंकता प्राप्त करा दी, फलस्वरूप चारित्र का भी उसी में जमने-रमने के लिए उत्साह तीव्र हो जाता है। इसप्रकार आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान एवं चारित्र तीनों एकरूप होकर, एकमात्र अपने स्वरूप प्राप्त करने के लिए स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ में ही संलग्न हो जाते हैं। ऐसी दशा तक मिथ्यात्व का अभाव तो नहीं होता लेकिन मिथ्यात्व क्षीण हो जाने से यह जीव निश्चितरूप से करणलब्धि पारकर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त करेगा, इस दशा को व्यवहार से निश्चय सम्यग्दर्शन तथा सविकल्प स्वसंवेदनज्ञान भी कहा है।

समापन

संसारी जीव को संसार परिभ्रमण का अभाव करने हेतु प्रारम्भिक उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन प्रगट करना है। सम्यग्दर्शन निर्विकल्प आत्मानुभूति के द्वारा ही प्रगट होता है। वह अनुभूति अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ में ही प्रगट होती है। अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ अपने ज्ञायक ध्रुवभाव में अपनापन उत्पन्न हुए बिना नहीं होता और ज्ञायक का स्वरूप समझकर, रुचि एवं परिणति (गर्भित शुद्धता) की उग्रता सहित नि:शंक श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना ज्ञायक में अपनत्व नहीं होता। अत: उसके समझने का सत्यार्थ मार्ग मिल जाना इस काल में महान-महान दुर्लभ है। इस काल में ज्ञानी पुरुषों का समागम ही दुर्लभ है; उनके अभाव में जिनवाणी में से सत्यार्थ मार्ग खोजकर निकाल लेना तो और भी कठिन है।

ऐसी कठिन परिस्थिति में प्रात: स्मरणीय पूज्यश्री कानजीस्वामी

का जन्म हुआ उन्हीं के उपदेशों से सत्यार्थ मार्ग प्राप्त हुआ और वही मार्ग यथार्थ रुचिपूर्वक अपनाकर, जिनवाणी के अध्ययन एवं चिंतन-मननपूर्वक पल्लवितकर, अपनी परिणति में प्रयोगकर, जो भी प्राप्त हुआ, उस अनुभव के आधार पर, उसी मार्ग को सुखी होने के उपाय पुस्तकमाला के आठ भागों में संकलित किया है।

द्वादशांग का सार तथा समस्त पुरुषार्थ का फल तो शुद्धात्मानुभूति प्राप्त करना है। ऐसी आत्मानुभूति प्रगट करने योग्य अन्तर्परिणति के पुरुषार्थ की चर्चा भी संक्षेप से इस पुस्तक में एवं सुखी होने के उपाय के भाग ८ में आ गई है।

इस पंचम काल में सभी जीव मिथ्यात्व सहित ही जन्म लेते हैं। फिर यथार्थ मार्ग समझकर सत्यार्थ पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेने वाली आत्मा बहुत विरल ही होती है अत: सत्यार्थ मार्गदर्शक मिलना ही बहुत कठिन है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल में सत्यार्थ मार्ग प्राप्ति होना तो अत्यन्त दुर्लभ अवश्य है।

हर एक आत्मार्थी का ध्येय तो सिद्ध परमात्मा बनने का ही होता है। वीतरागता के बिना सिद्धदशा प्राप्त नहीं होती। वीतरागता का जन्म त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनापन आये बिना नहीं होता। इसलिये आत्मार्थी का उद्देश्य तो ज्ञायकभाव में अपनत्व स्थापन कर, अन्तर्परिणति में वीतरागता उत्पन्न करने का ही होता है। इसलिये सत्यार्थ मार्ग वही है जिसके अपनाने से परिणति में वीतरागता उत्पन्न हो। आत्मार्थी को इस मापदण्ड से पहिचानकर, मार्ग की सत्यार्थता परख (जाँच) लेना चाहिये। आचार्य अमृतचन्द्र ने सब शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता बताया है अर्थात् द्वादशांग का सार एक मात्र वीतरागता है।

वर्तमान काल में सत्यार्थ मार्ग प्रदाता ज्ञानी पुरुषों का समागम

दुर्लभ है अत: एकमात्र जिनवाणी ही शरण है। तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के अध्ययन में भी मात्र वे ही कथन प्रयोजनभूत जानकर ग्रहण करना चाहिये, जिनके अपनाने से परिणति में वीतरागता उत्पन्न हो। जिनवाणी में कथन तो अनेक अपेक्षाओं को लेकर अनेक प्रकार के आते हैं। अपनी बुद्धि की एवं जीवन की अल्पता के कारण, सब कथनों का समझना तो शक्य हो नहीं सकता। इसलिये उनमें से प्रयोजनभूत कथनों के ग्रहण करने में सतर्क रहते हुए ग्रहणकर लेना चाहिये बाकी को गौण रखना चाहिये। ताकि अपने जीवन काल में अपना उद्देश्य सफल होकर आत्मानुभूति प्रगट हो सके। सुखी होने का उपाय पुस्तकमाला एवं प्रस्तुत पुस्तक में उपरोक्त पद्धति ही अपनाई गई है।

इसलिये मुझे पूर्ण विश्वास है कि उपरोक्त मार्ग ही सत्यार्थ मार्ग है, अपने ध्येय को प्राप्त करानेवाला एवं उद्देश्य को प्राप्त करानेवाला, और आगम सम्मत मार्ग है। अनन्त तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का उपदेश किया है और यही मार्ग अपनाकर पूर्ण दशा प्राप्त की है। अत: उपरोक्त मार्ग निर्दोष एवं पूर्ण सत्यार्थ होने से नि:शंक होकर स्वीकार करने योग्य है। मैंने भी इसी मार्ग को अपनाया है और अपने अनुभव के आधार पर सभी आत्मार्थी बन्धुओं को यही मार्ग अपनाने के लिये निवेदन भी है।

विश्वास है आत्मार्थी बन्धु उपरोक्त मार्ग को अपनाकर, अपनी अर्न्तपरिणति में प्रयोग कर रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धतापूर्वक, त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व में अपनत्व स्थापन कर, मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का अभावकर, निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगटकर जीवन सफल करें। इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्री नागेन्द्रकुमारजी पाटनी, आगरा	2001.00
2. श्रीमती कलावती कंचनबाई पाटनी फै. चै. ट्रस्ट, मुम्बई	2001.00
3. श्रीमती सन्तोषरानी पाटनी ध.प. श्री सुखदयालजी देवड़िया, केसली	251.00
4. श्रीमती रश्मी वीरेश कासलीवाल, सूरत	251.00
5. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	251.00
6. श्रीमती सोहनदेवी ध.प. स्व. तनसुखलालजी पाटनी, गोहाटी	251.00
7. श्री बाबूलालजी राजेशकुमारजी पाटनी, गोहाटी	251.00
8.श्रीमती भँवरीदेवी ध.प. स्व. श्री घीसालालजी छाबड़ा , सीकरवाले	251.00
9. श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	251.00
10. श्री सुमतिलालजी जैनावत, इन्दौर	251.00
11. श्री मगनमल सौभाग्यमल पाटनी फै.चै. ट्रस्ट, मुम्बई	251.00
12. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
13. श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	251.00
14. श्री मोलड़मल शोसिंह राय जैन एण्ड सन्स, अग्रवाल मण्डी	251.00
15. श्री जीवनमलजी जेठमलजी अजमेरा, भीलवाड़ा	251.00
16. श्री माँगीलालजी अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
17. स्व. ऋषभकुमार जैन पुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	201.00
18. श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	201.00
19. श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत सिटी	201.00
20. श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	201.00
21. श्रीमती रामस्वरूपीदेवी ध.प. पं. धन्नालालजी जैन	201.00
22. श्रीमती स्नेहलतादेवी शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा	111.00
23. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
कुल राशि :	8733.00